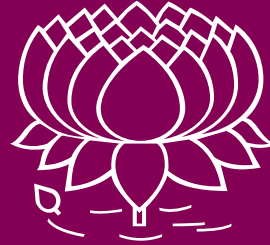


॥ वन्दे श्री गुरु तारणम् ॥

आचार्य प्रवर श्रीमद् जिन तारण तरण मण्डलाचार्य महाराज द्वारा रचित

श्री त्रिभंगीसार जी

अध्यात्म प्रबोध - टीका



स्वामी ज्ञानानंद

आचार्य प्रवर श्री मद् जिन तारण स्वामी विरचित

त्रिभंगीसार

(अध्यात्म प्रबोध-टीका)

टीकाकार
स्वामी ज्ञानानन्द



सम्पादक
ब्र. बसन्त

प्रकाशक
श्री तारण तरण

अध्यात्म प्रचार योजना केन्द्र
६१, मंगलवारा, भोपाल (म.प्र.)

श्री त्रिभंगीसार जी ग्रंथ

(अध्यात्म प्रबोध-टीका)

टीकाकार-आध्यात्मिक संत पूज्य श्री ज्ञानानन्द जी महाराज

संत तारण जयंती-३ दिसंबर, सन् २०००

प्रथम संस्करण-३५५०

* प्रकाशक संक्षेप-ज्ञानदान प्रभावना हेतु *

- तारण तरण जैन समाज सिरोंज - १००० प्रति
- स्व. श्री ठाकुरसीलाल विनय कुमार जैन ,
धर्मार्थ ट्रस्ट, होशंगाबाद - १००० प्रति
- श्री विजय बहादुर जी जैन ललितपुर - १००० प्रति
- * सशुल्क प्रचार-प्रसार प्रभावना हेतु *
- श्री तारण तरण अध्यात्म प्रचार योजना केन्द्र भोपाल - ५५० प्रति

मूल्य-तीस रुपये

प्राप्ति स्थल-

- १- ब्रह्मानन्द आश्रम, संत तारण तरण मार्ग
पिपरिया, जिला होशंगाबाद (म.प्र.) ४६१७७५
फोन : (०७५७६) २२५३०
- २- श्री तारण तरण अध्यात्म प्रचार योजना केन्द्र
६१, मंगलवारा, भोपाल (म.प्र.) ४६२००१
फोन : (०७५५) ७०५८०१, ७४१५८६
- ३- श्री तारण तरण ग्रंथालय, तारण भवन,
छोटी बाजार, छिन्दवाड़ा (म.प्र.) ४८०००१
फोन : (०७१६२) ४५०८१

:: अक्षर संयोजन एवं अभिकल्पन ::

संदीप जैन, सुपर कम्प्यूटर्स, चार फाटक, नरसिंहपुर रोड, छिन्दवाड़ा (म.प्र.) पिन- ४८०००२, फोन ४७२४७
मुद्रक-जयभारत प्रिंटिंग प्रेस, वैस्ट रोहताश नगर, शाहदरा, दिल्ली-३२, फोन :- २२९५०१३

प्रकाशकीय

अध्यात्मवाद सत्य धर्म की अलख जगाने वाले श्री गुरुदेव तारण तरण मण्डलाचार्य जी महाराज परम वीतरागी शुद्धात्मवादी संत थे। उनके द्वारा रचित चौदह ग्रंथ युगों युगों तक जनमानस के लिये मार्गदर्शन करते रहेगे। श्री गुरु तारण स्वामी की पावन वाणी जगत के लिये कल्याणकारी है, यह बात अभी तक समझ से परे थी; किन्तु आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है, इस उक्ति की सिद्धि हुई और वर्तमान सामाजिक धार्मिक वातावरण में अपनी भाषा में गुरुवाणी को समझने की जिज्ञासा की तृप्ति हेतु दशमी प्रतिमाधारी आत्मनिष्ठ साधक पूज्य श्री ज्ञानानंद जी महाराज ने गुरुदेव तारण स्वामी द्वारा रचित तीन बत्तीसी, श्रावकाचार, उपदेश शुद्धसार, त्रिभंगीसार जी ग्रंथों की टीकायें लिखीं। इनमें से तीन बत्तीसी (श्री मालारोहण, पंडित पूजा, कमल बत्तीसी जी) का प्रकाशन पूर्ण हो गया है। इसके साथ ही अध्यात्म अमृत, अध्यात्म किरण तथा बाल ब्र. श्री बसंत जी महाराज द्वारा लिखित अध्यात्म आराधना देवगुरु शास्त्र पूजा और अध्यात्म भावना का प्रकाशन भी हुआ है। यह साहित्य विशेष रूप से धर्म प्रभावना में निमित्त बना है।

भोपाल तारण समाज को गुरुवाणी प्रचार-प्रसार करने का सौभाग्य मिला है और यहां श्री तारण तरण अध्यात्म प्रचार योजना केन्द्र की स्थापना ३१ मार्च १९९९ को हुई और अल्प समय में ही ज्ञान दान साहित्य प्रचार में गतिशीलता आई। इस कार्य से पूरे देश में महती प्रभावना हो रही है। पूज्य श्री ज्ञानानंद जी महाराज ने इन टीकाओं में गुरुवाणी के यथार्थ भावों को अपनी भाषा में प्रगट कर हमें आत्म हित का मार्ग बताकर महान उपकार किया है। अध्यात्म रत्न बाल ब्र. श्री बसंत जी महाराज ने बड़ी लगन और अथक परिश्रम करके इन टीकाओं का संपादन किया है जो अनुकरणीय और अभिनंदनीय है, हम हृदय से उनके आभारी हैं।

साहित्य प्रकाशन के इस कार्य को आगे बढ़ाने में भोपाल एवं अन्य स्थानों के अनेक समाज बंधुओं ने अपना अमूल्य सहयोग देकर इस दुर्लभ साहित्य को देश के कोने कोने में पहुंचाने में योगदान दिया है, जो ज्ञानदान का महान कार्य है एतदर्थ, हम सभी का हार्दिक अभिनंदन करते हैं।

प्रस्तुत श्री त्रिभंगीसार जी ग्रंथ की अध्यात्म प्रबोध टीका की एक-एक हजार प्रतियों का प्रकाशन क्रमशः तारण तरण जैन समाज सिरोंज, श्री सुभाषचंद जी, प्रभात जी दिगम्बर परिवार होशंगाबाद एवं पाँच सौ प्रति श्री विजय बहादुर जी इंजीनियर ललितपुर की ओर से ज्ञानदान की प्रभावना हेतु तथा पाँच सौ प्रतियों का प्रकाशन श्री तारण तरण अध्यात्म प्रचार योजना केन्द्र भोपाल द्वारा सशुल्क प्रचार-प्रसार प्रभावना हेतु कराया गया है। उदारमना तीनों दानदाताओं के हम आभारी हैं। ब्रह्मानंद आश्रम पिपरिया, महात्मा गोकुलचंद समैया तारण साहित्य प्रकाशन समिति जबलपुर एवं श्री तारण तरण अध्यात्म प्रचार योजना केन्द्र भोपाल श्री गुरुवाणी प्रचार-प्रसार के लिए निरंतर प्रयत्नशील है।

प्रसन्नता है कि अध्यात्म प्रचार योजना केन्द्र की गतिविधियों में भोपाल नगर स्थित तीनों चैत्यालयों के पदाधिकारी, तारण तरण जागृति मण्डल एवं युवा परिषद् का विशेष सहयोग रहता है।

वर्तमान समय की अनिवार्य आवश्यकता थी साहित्य सृजन की, इस दिशा में यह एक सार्थक पहल हुई है, जो सभी को प्रसन्नता और गौरव का विषय है।

आत्म निष्ठ साधक पूज्य श्री ज्ञानानंद जी महाराज, अध्यात्म रत्न बाल ब्र. पू. श्री बसंत जी महाराज एवं श्री संघ के प्रति कृतज्ञता अर्पित करते हुए आशा करते हैं कि गुरुवाणी और सत्य धर्म की प्रभावना हेतु पूज्यजनो का मंगलमय मार्गदर्शन और आशीर्वाद मिलता रहेगा, यही पवित्र भावना है।

छोटेलाल जैन

दीपावली पर्व
दिनांक २७.१०.२०००

एवं समस्त पदाधिकारी गण
श्री तारण तरण अध्यात्म प्रचार योजना
केन्द्र भोपाल (म.प्र.)

सम्पादकीय

भारतीय संस्कृति के आध्यात्मिक क्षितिज पर विक्रम संवत् १५०५ की मिति अगहन सुदी सप्तमी को एक महान क्रांतिकारी ज्ञान रवि के रूप में आध्यात्मिक शुद्धात्मवादी संत श्रीमद् जिन तारण तरण मण्डलाचार्य जी महाराज का उदय हुआ। बचपन से ही पूर्व संस्कार संयुक्त होने से विलक्षण प्रतिभा संपन्न श्री जिन तारण तरण पुण्य संपृक्त अपनी बाल सुलभ चेष्टाओं के द्वारा सभी को सुखद अनुभव कराते हुए दूज के चन्द्रमा की भाँति वृद्धि को प्राप्त होने लगे। वे जब पाँच वर्ष के थे तब राज्य में क्रांति, कोषालय में आग लगना तथा तारण स्वामी द्वारा पुनः कागजात तैयार करवा देना उनके “**बाल्यकालादति प्राज्ञ**” होने का बोध कराता है। कागजात तैयार कराने का कारण यह कि उनके पिता श्री गढ़ाशाह जी पुष्पावती नगरी के राजा के यहाँ कोषाधीश पद पर कार्यरत थे।

“**मिथ्याविली वर्ष ग्यारह**” श्री छद्मस्थ वाणी जी ग्रंथ के इस सूत्रानुसार (१/१७) उन्हें ग्यारह वर्ष की बालवय में आत्म स्वरूप के अनुभव प्रमाण बोध पूर्वक मिथ्यात्व का विलय और सम्यक्त्व की प्रगटता हुई, जैसा कि सम्यक्त्व का महात्म्य आचार्य प्रणीत ग्रंथों में उपलब्ध होता है कि सम्यक्त्व रूपी अनुभव संपन्न सूर्य के उदय होने पर मिथ्यादर्शन रूपी रात्रि विलय को प्राप्त होती है, सम्यक्त्व के प्रकाश में मिथ्यात्व आदि विकार टिकते नहीं हैं। आत्म अनुभव के जाग्रत होने पर अनादि कालीन अज्ञान अंधकार का अभाव हो जाता है तथा संसार, शरीर, भोगों से सहज वैराग्य होता है। यह सब श्री तारण स्वामी के जीवन में हुआ और आत्मबल की वृद्धि होने के साथ-साथ वैराग्य भाव की वृद्धि भी होने लगी इसी के परिणाम स्वरूप उन्होंने इक्कीस वर्ष की किशोरावस्था में बाल ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने का संकल्प कर लिया और सेमरखेड़ी वन, जो विदिशा जिले में सिरोंज के निकट स्थित है, की गुफाओं में आत्म साधना करने लगे।

माँ की ममता और पिता का प्यार भी उनकी आध्यात्मिक गति को बाधा नहीं पहुँचा सका और निरंतर वृद्धिगत होते हुए वैराग्य के परिणाम स्वरूप श्री तारण स्वामी ने तीस वर्ष की युवावस्था में सप्तम ब्रह्मचर्य प्रतिमा के व्रतों को पालन करने की दीक्षा ग्रहण की।

श्री गुरु तारण स्वामी की संयम साधना और आध्यात्मिक क्रान्ति के बारे में उल्लेख करते हुए सिद्धांतशास्त्री स्व. पं. श्री फूलचंद जी ने ज्ञान समुच्चय सार ग्रंथ की भूमिका में लिखा है कि “जैसा कि हम पहले बतला आए हैं अपने जन्म समय से लेकर पिछले तीस वर्ष स्वामी जी को शिक्षा और दूसरे प्रकार अपनी आवश्यक तैयारी में लगे। इस बीच उन्होंने यह भी अच्छी तरह जान लिया कि मूल संघ कुंद-कुंद आम्नाय के भट्टारक भी किस गलत मार्ग से समाज पर अपना वर्चस्व स्थापित करते हैं। उसमें उन्हें मार्ग विरुद्ध क्रियाकाण्ड की भी प्रतीति हुई अतः उन्होंने ऐसे मार्ग पर चलने का निर्णय लिया जिस पर चलकर भट्टारकों के पूजा आदि संबंधी क्रियाकाण्ड की अयथार्थता को समाज हृदयंगम कर सके; किन्तु इसके लिए उनकी अब तक जितनी तैयारी हुई थी उसे उन्होंने पर्याप्त नहीं समझा। उन्होंने अनुभव किया कि जब तक मैं अपने वर्तमान जीवन को संयम से पुष्ट नहीं करता, तब तक समाज को दिशादान करना संभव नहीं है। यही कारण है कि तीस वर्ष की उम्र में सर्वप्रथम वे स्वयं को व्रती बनाने के लिए अग्रसर हुए।”

उनकी आत्म साधना पूर्वक निरंतर वृद्धिगत होती हुई वीतरागता, सेमरखेड़ी के निर्जन वन की पंचगुफाओं में ममल स्वभाव की साधना उन्हें एक ओर अपने आत्मकल्याण और मुक्त होने के लक्ष्य की ओर अग्रसर होने में प्रबल साधन बन रही थी, वहीं दूसरी ओर उनके सातिशय पुण्य के योग से सत्य धर्म, अध्यात्म मार्ग की प्रभावना हो रही थी और लाखों जिज्ञासु आपके अनुयायी बन रहे थे जिसमें जाति-पांति का कोई भेदभाव नहीं था। इस मार्ग को स्वीकार करने का आधार था-सात व्यसन का त्याग और अट्टारह क्रियाओं का पालन करना।

अनेक भव्य जीवों का जागरण, निष्पक्ष भाव से हो रही धर्म प्रभावना, आध्यात्मिक क्रांति का रूप धारण कर रही थी। यह सब, भट्टारक और धर्म के ठेकेदारों को रुचिकर नहीं लगा फलतः योजनाबद्ध ढंग से श्री तारण स्वामी को जहर पिलाया गया और बेतवा नदी में डुबाया गया किन्तु इन घटनाओं से भी वे विचलित नहीं हुए बल्कि यह सब होने के पश्चात् तारण पंथ का अस्तित्व पूर्ण रूपेण व्यक्त और व्यवस्थित हो गया तथा वट वृक्ष की तरह विराट् स्वरूप धारण कर लिया। प्रभावना आदि का विशेष योग होते हुए भी श्री गुरु तारण स्वामी

का बाह्य राग और प्रपंचों से कोई संबंध नहीं था। उनकी वीतराग भावना इतनी उत्कृष्ट होती गई कि साठ वर्ष की उम्र में उन्होंने निर्ग्रन्थ दिगम्बर जिन दीक्षा धारण कर ली। श्री गुरुदेव १५१ मण्डलों के प्रमुख आचार्य होने से मण्डलाचार्य पद से अलंकृत हुए। उनके श्री संघ में ७ निर्ग्रन्थ मुनिराज (साधु), ३६ आर्यिकायें, २३१ ब्रह्मचारिणी (सुवनी) बहनें तथा ६० ब्रह्मचारी व्रती श्रावक एवं १८ क्रियाओं का पालन करने वाले सद्ग्रहस्थ श्रावक लाखों की संख्या में थे। उनके शिष्यों की कुल संख्या ४३४५३३१ थी, जिसका संपूर्ण विवरण श्री नाममाला ग्रन्थ में उपलब्ध है। श्री गुरुदेव तारण स्वामी साधु पद पर ६ वर्ष, ५ माह, १५ दिन तक प्रतिष्ठित रहे, पश्चात् विक्रम संवत् १५७२ की ज्येष्ठ वदी छठ को समाधि धारण कर सर्वार्थ सिद्धि को प्राप्त हुए।

उन्होंने पाँच मतों में चौदह ग्रंथों की रचना की जो इस प्रकार हैं -
विचार मत में - श्री मालारोहण, पण्डितपूजा, कमलवत्तीसी जी।
आचार मत में - श्री श्रावकाचार जी।
सार मत में - श्री ज्ञान समुच्चय सार, उपदेश शुद्ध सार, त्रिभंगी सार जी।
ममलमत में - श्री चौबीस ठाणा, ममल पाहुड़ जी।
केवल मत में - श्री खातिका विशेष, सिद्ध स्वभाव, सुन्न स्वभाव, छद्मस्थवाणी तथा नाममाला ग्रंथ हैं।

इन पाँच मतों में विचार मत में-साध्य, आचार मत में-साधन, सार मत में-साधना, ममलमत में-सम्हाल (सावधानी) और केवल मत में-सिद्धि का मार्ग प्रशस्त किया है। इसके लिए आधार दिया है क्रमशः भेदज्ञान, तत्त्वनिर्णय, वस्तुस्वरूप, द्रव्य दृष्टि और ममलस्वभाव का, जिनसे उपरोक्त साध्य आदि की सिद्धि होती है।

यह अध्यात्म ज्ञान मार्ग अपने शुद्धात्म स्वरूप के आश्रय से ही प्रशस्त होता है। इसमें पर पर्याय, कर्मादि संयोग, शरीर या बाह्य क्रियाकाण्ड यहाँ तक कि परमात्मा भी पर हैं, इनकी तरफ दृष्टि भी इस मार्ग में बाधा है, इसलिये श्री जिन तारण तरण मण्डलाचार्य जी महाराज पर की समस्त पराधीनता के लिये वज्रपात थे। वे समस्त बंधनों से परे होकर चले तथा वीतराग जिन धर्म के अनाद्यनन्त सिद्धांत वस्तु स्वातंत्र्य और पुरुषार्थ से मुक्ति की प्राप्ति का, स्वयं

परमात्मा होने के विधान का शंखनाद किया। उनका जीवन गौरवपूर्ण था, वे छल-प्रपंच से बहुत दूर सत्य निष्ठ थे, भय का उनके जीवन में कहीं नाम-निशान भी नहीं था। उनके द्वारा की गई अध्यात्म क्रांति उनकी वीतरागता, निस्पृहता, निर्भयता और जन-जन को धर्म और पूजा के नाम पर फैल रहे आडम्बर, जड़वाद, पाखण्डवाद से मुक्त कर सत्य अध्यात्म धर्म में स्थिर कर देने की भावना का परिणाम थी।

उनकी विशुद्ध आध्यात्मिक परंपरा में ज्ञान मार्ग पर निरंतर अग्रणी, आत्म साधना के सतत् प्रहरी, आध्यात्मिक संत, अध्यात्म शिरोमणी पूज्य श्री ज्ञानानन्द जी महाराज अहर्निश अपने आत्म चिंतन साधना में रत रहते हुए हम सभी भव्यात्माओं के आत्म कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं, यह हमारा महान सौभाग्य है। श्री गुरु तारण तरण मण्डलाचार्य जी महाराज द्वारा विरचित चौदह ग्रंथों में से पूज्य श्री द्वारा अनूदित श्री मालारोहण ग्रंथ की अध्यात्म दर्शन टीका, श्री पण्डित पूजा ग्रंथ की अध्यात्म सूर्य टीका और श्री कमलवत्तीसी ग्रंथ की अध्यात्म कमल टीका का प्रकाशन हुआ, साथ ही अध्यात्म अमृत (चौदह ग्रंथ जयमाल एवं भजन), अध्यात्म आराधना, अध्यात्म भावना तथा चौपड़ा (महाराष्ट्र) से अध्यात्म धर्म (धम्म आयरन फूलना-सार्थ) का प्रकाशन हुआ, जिससे समाज में स्वाध्याय की रुचि और भावनायें जाग्रत हुई हैं। स्वाध्याय का एक व्यवस्थित क्रम बना है। इसके साथ ही देश के कोने-कोने में दिगम्बर-श्वेताम्बर जैन तथा जैनेतर बंधु भी लगन पूर्वक इन ग्रंथों का स्वाध्याय मनन कर अपने आपको सौभाग्यशाली समझ रहे हैं। इस साहित्य से देश के लोगों में श्री गुरुदेव को और उनकी वाणी को जानने की जिज्ञासायें प्रबल हुई हैं जो हमारे लिए प्रसन्नता और गौरव का विषय है।

पूज्य श्री महाराज जी ने सन् १९९१-९२ में मौन साधना कर विशेष अनुभव रत्न उपलब्ध किये थे, यह टीकायें भी उसी साधना के अंतर्गत सहज ही लिपिबद्ध हो गई, जो आज हमारे लिये मार्गदर्शक सिद्ध हो रहीं हैं। सहस्राब्दि वर्ष २००० में तीन बत्तीसी जी के प्रकाशन के पश्चात् नई शताब्दि वर्ष २००१ के नवप्रभात के प्रारम्भ में पूज्य श्री ज्ञानानन्द जी महाराज द्वारा अनूदित श्री त्रिभंगीसार जी ग्रंथ की अध्यात्म प्रबोध टीका आपको स्वाध्याय हेतु उपलब्ध कराते हुए अत्यंत प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

प्रस्तुत श्री त्रिभंगीसार जी ग्रंथ, सारमत का ग्रंथ है। इस ग्रंथ में श्री गुरु

तारण स्वामी ने कुल ७१ गाथाएँ लिखी हैं, जो दो अध्यायों में विभाजित हैं। अपने सत्स्वरूप की साधना, आराधना करने के लिए अपने परिणामों की सम्हाल करना, लेश्या के अनुसार आयुबंध का विधान, आस्रव और संवर के भेद-प्रभेदों का कथन, यही ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय है। सम्यक्दृष्टि ज्ञानी साधक संसार के दुःखों से मुक्त होना चाहता है और यह निर्णय है कि जीव का वैभाविक परिणमन आस्रव और बंध में कारण है। आस्रव बंध, संसार के हेतुभूत तत्त्व हैं और संवर निर्जरा, मोक्ष के हेतुभूत तत्त्व हैं।

ज्ञानमय आत्मस्वरूप का सम्यक् स्वाधीन अनाकुल सहज शुद्ध परिपूर्ण विकास प्राप्त करने के लिए, अविकार पूर्ण सहजानंद मय अंतस्तत्त्व में आत्मत्व की भावना को दृढ़ बनाने के पुरुषार्थ पूर्वक संवर निर्जरा सहित मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करने में ही इस मनुष्य जन्म की सही अर्थों में सार्थकता है। चार गति चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करते हुए अनादिकाल बीत गया, मनुष्य जन्म में इस संसार चक्र से मुक्त होने का सुअवसर प्राप्त हुआ है, इसलिए बंध निवृत्ति के लिए भेदज्ञान पूर्वक रागादि विकारों को पर भाव जानकर उनसे उपेक्षा करके अविकार ज्ञान स्वरूप में आत्मत्व का अनुभव करने का अंतः पौरुष करना चाहिए, आस्रव बंध से बचने का यही उपाय है।

श्री गुरुदेव तारण स्वामी ने त्रिभंगीसार जी ग्रंथ के प्रथम अध्याय में जीव के विभाव परिणामों से होने वाले आस्रव के ३६ त्रिभंगों द्वारा १०८ भेदों का उल्लेख किया है। श्री तत्त्वार्थ सूत्र ग्रंथ के “कायवाङ्ग मनः कर्म योगः, स आस्रवः” (६/१-२) इस सूत्रानुसार मन-वचन-काय योग हैं और वही आस्रव है। वस्तुतः कर्म वर्गणाओं के आस्रव का मूल कारण योग है। आत्मा की एक स्वाभाविक शक्ति परिस्पंदन रूप योग जो कर्म एवं नोकर्म वर्गणाओं को आकर्षित करने में कारण है, यही आस्रव का मूल है। जिस समय मन, वचन, काय के द्वारा कोई कार्य होता है उस समय आत्मा के प्रदेश सकम्प होते हैं तथा उसी समय पुद्गल कार्माण वर्गणायेँ आस्रवित होती हैं, और बन्ध हो जाता है वस्तुतः आत्म प्रदेशों में परिस्पंदन होना ही योग है इसी से आस्रव होता है। मन-वचन-काय उसमें निमित्त मात्र हैं।

योग के मुख्य रूप से दो भेद हैं-भाव योग और द्रव्य योग। आत्मा की परिस्पंदन रूप शक्ति भाव योग है, यह भाव योग वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम

एवं शरीर नाम कर्म के उदय के निमित्त से कार्य करता है। करणानुयोग के ग्रंथों के अनुसार आत्मा के प्रदेशों का परिस्पंदन होना, हलन-चलन यह द्रव्य योग है। मन-वचन-काय का हलन-चलन आत्म प्रदेशों के परिस्पंदन में निमित्त कारण है। इस प्रकार आस्रव और आस्रव भूत परिणामों का वर्णन श्री गुरु महाराज ने प्रथम अध्याय में तथा आस्रव निरोधक संवर रूप परिणामों का विवेचन दूसरे अध्याय में किया है।

यह हमारा महान सौभाग्य है कि श्री त्रिभंगीसार जी ग्रंथ की गाथाओं के हार्द को पूज्य श्री ज्ञानानन्द जी महाराज ने अपनी सरल, सहज, सुबोध भाषा में अध्यात्म प्रबोध टीका करके अति दुरुह कार्य जो गुरु ग्रंथों को समझने का था, उसे बिल्कुल सहज, सरल कर दिया है। पूज्य श्री ने टीका में आस्रव और संवर संबंधी अनेकों रहस्य स्पष्ट किए हैं। परिणामों की सम्हाल अपनी अंतरंग साधना है इसे बाहर से कहना या बताया जाना संभव नहीं है, यह अंतर की बात अंतर में ही होती है। इसी साधना और सम्हाल का ग्रंथ है यह त्रिभंगीसार और पूज्यश्री द्वारा की गई यथा नाम तथा गुण को चारितार्थ करने वाली अध्यात्म प्रबोध टीका। वस्तुतः रागादि आस्रवभूत भावों से भिन्न अपने स्वभाव की यथार्थ पहिचान जागृति बोध होना ही अध्यात्म प्रबोध है। रागादि विकारी भाव और अपने चैतन्य स्वभाव में लक्षण भेद से भिन्नता है। इसे जानना और तदनुरूप रहना ही त्रिभंगीसार का सार है। इस टीका की विशेषता यह है कि इसमें द्रव्यानुयोग अर्थात् अपने ध्रुव स्वभाव के आश्रय से करणानुयोग की साधना, अपने परिणामों की सम्हाल का मार्ग स्पष्ट हुआ है।

पूज्य श्री महाराज जी ने इस टीका ग्रंथ में अनेकों सूत्र जिनवाणी के सार स्वरूप स्पष्ट किये हैं, आत्मचिंतन हेतु कतिपय अनुभव रत्न प्रस्तुत हैं -

जितने अंश में शुद्धता प्रगट होती है उतने अंश में धर्म है यही मुक्ति मार्ग है। शुभ-अशुभ भाव से कर्मास्रव, कर्मबन्ध होता है, ऐसा विचार भव्यजीव को करना चाहिए और कर्मास्रव के कारणों से बचकर अपने शुद्धात्मा के परम शुद्ध स्वभाव में रहना चाहिए, इसी से कर्मास्रव और आयुबन्ध से बचा जा सकता है।

(गाथांश-५)

मिथ्यादर्शन सहित सभी भाव संसार के कारण कर्म बंध के कारक हैं; इसलिए मिथ्यात्व सहित सर्व भावों का निरोध करके सम्यक्दर्शन की भावना करना चाहिए। जहाँ निज शुद्धात्मा का अनुभव होगा, वहीं निश्चय या उत्तम

सम्यक्दर्शन है, सम्यक्दर्शन का होना ही कर्मास्रव के निरोध का मूल है ।

(गाथांश-७)

शुद्धोपयोग में रमण करना ही आत्मा का स्वहित है, संवर का कारण है । इसके विपरीत अशुद्धोपयोग है, चाहे शुभ हो या अशुभ हो, इसी से कर्मास्रव बंध होता है ।

(गाथांश-१०)

जो कोई आत्मा, जड़ कर्म की अवस्था और शरीरादि की अवस्था का कर्ता नहीं है, उसे अपना कर्तव्य नहीं मानता है, तन्मय बुद्धिपूर्वक परिणमन नहीं करता है किन्तु मात्र ज्ञाता है अर्थात् तटस्थ रहता हुआ साक्षी रूप से ज्ञाता है, वह आत्मा ज्ञानी है ।

(गाथांश-१४)

यदि किसी से किंचित् भी राग है तो द्वेष होगा ही । राग में मिटास होती है वह पुण्य रूप है, द्वेष में खटास होती है वह पाप रूप है । इन्हीं दोनों से पुण्य-पाप का बंध होता है । जब तक पुण्य-पाप का लगाव नहीं छूटता, तब तक धर्म नहीं हो सकता । धर्म साधना में शुभ भाव, राग भाव, पुण्य का लगाव सबसे बड़ी बाधा है । पाप के उदय, पाप के संयोग या पाप को करते हुए धर्म साधना संभव नहीं है ।

(गाथांश-२४)

कंचन, कामिनी, कीर्ति माया का घेरा है । पुत्र-परिवार मोह का घेरा है । धन-वैभव, विषयासक्ति, ममत्व का फैलाव है । जब तक अपनत्वपना, कर्तापना, अहंकार और चाह है, तब तक तनाव अशांति नहीं मिट सकती । आवश्यकता से आकुलता होती है, समस्या से विकल्प होते हैं और जिम्मेदारी से चिंता होती है ।

(गाथांश-३८)

यदि साधक का यह दृढ़ निश्चय हो जाये कि मुझे एकमात्र परमात्म पद प्राप्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं करना है तो वह वर्तमान में ही मुक्त हो सकता है; परंतु यदि वस्तुओं के सुख भोग और जीने की इच्छा रहेगी तो इच्छा कभी पूरी नहीं हो सकती तथा मृत्यु के भय और क्रोध से भी छुटकारा नहीं मिलेगा अतः मुक्त होने के लिए इच्छा रहित होना आवश्यक है ।

(गाथांश-४३)

सम्यक्दृष्टि ज्ञानी जीव जब अपना उपयोग स्वात्मानुभव में नहीं जोड़ पाते हैं तब शुद्धात्मा की स्तुति, उसकी महिमा का वर्णन करते हैं तथा चिंतन-मनन द्वारा वंदना करके उपयोग को शुद्ध भाव में ले जाने की चेष्टा करते हैं, इससे समस्त कर्मास्रव का निरोध हो जाता है ।

(गाथांश-६४)

इस प्रकार के अनेकों रहस्य पूज्य श्री ने इस टीका ग्रंथ में स्पष्ट किये हैं । अन्वयार्थ, विशेषार्थ और साधक, जिज्ञासु के मन में सहज ही उठने वाले प्रश्नों का अपनी भाषा में समाधान करके गूढ़ रहस्यों को सरलता पूर्वक समझाया है । इस प्रकार की रचनाएँ, टीकाएँ स्वाध्यायी मुमुक्षु भव्य आत्माओं के लिए विशेष उपलब्धि है । इन टीका ग्रंथों में क्या है ? यह तो इनके स्वाध्याय चिंतन-मनन से ही जाना जा सकता है । सिद्धांत, सत्य किसी मत पक्ष से बंधा नहीं होता है, वह त्रैकालिक सत्य, एकरूप सार्वभौम होता है, जिसका निष्पक्ष दृष्टि से चिंतन अनिवार्य है । इन ग्रंथों का सदुपयोग तभी है जब सामूहिक रूप से इनका स्वाध्याय मनन हो और अपनी दृष्टि आत्मोन्मुखी हो, यही इन टीकाओं का यथार्थ सदुपयोग है ।

पूज्य श्री द्वारा अनूदित यह टीकाएँ आत्मार्थी जीवों के लिए विशेष देन है और उनका परम उपकार है कि इस विषम पंचम काल में हम सभी भव्यात्माओं के लिए सत्य वस्तु स्वरूप समझने और आत्म कल्याण करने का मार्ग प्रशस्त किया है ।

श्री त्रिभंगीसार जी ग्रंथ की प्रस्तुत “ **अध्यात्म प्रबोध टीका** ” का स्वाध्याय चिंतन-मनन कर सभी जीव शरीरादि कर्म संयोग और रागादि विभाव परिणामों से भिन्न अपने महिमामय चैतन्य ज्ञान स्वभावी शुद्धात्मा का विशेष बोध जाग्रत कर अध्यात्म प्रबोध को प्राप्त होकर अपने मनुष्य जीवन को सफल सार्थक बनायें यही मंगल भावना है ।

ब्रह्मानन्द आश्रम, पिपरिया

संत तारण जयंती , दिनांक- ३.१२.२०००

ब्र. बसन्त

आत्म साधना का सोपान

श्रीमद् जिन तारण तरण मण्डलाचार्य जी महाराज ने चौदह ग्रंथों की रचना की, यह ग्रंथ आध्यात्मिक ग्रंथ हैं। लगभग पांच सौ वर्षों तक इस अमूल्य अध्यात्मवाणी को हमारे पूर्वजों ने सुरक्षित रखा। बीसवीं सदी में जब विद्वानों ने इन आध्यात्मिक ग्रंथों की टीकाएँ की, तब अध्यात्म का रहस्य हमारे सामने उजागर हुआ।

पूज्य श्री ज्ञानानन्द जी महाराज ने श्री जिन तारण स्वामी द्वारा रचित चौदह ग्रंथों में से छह ग्रंथों की टीकाएँ की हैं। जिनमें से तीन ग्रंथों की टीकाएँ प्रकाशित होकर स्वाध्याय हेतु उपलब्ध हो गई हैं। श्री त्रिभंगीसार जी ग्रंथ की टीका भी प्रकाशित की जा रही है यह सभी के लिये विशेष उपलब्धि है। पूज्य बाल ब्र. बसन्त जी महाराज द्वारा इन टीका ग्रंथों का संपादन कार्य कुशलतापूर्वक किया गया है जो हमारे लिये अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है।

अध्यात्म की दुर्गम धारा को पूज्य श्री ज्ञानानन्द जी महाराज ने इतना सहज सरल करके प्रवाहित कर दिया है कि प्रत्येक मुमुक्षु बंधु को सहजता से अध्यात्म का दर्शन हो जाता है। श्री तारण तरण अध्यात्म प्रचार योजना के अंतर्गत इन ग्रंथों की टीका का प्रकाशन स्वाध्याय प्रेमी जिज्ञासु जीवों के लिये अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होगा। पिछले कुछ वर्षों से तारण तरण श्री संघ के सत्प्रयासों से समाज में धार्मिक चेतना एवं जाग्रति आई है, गुरुवाणी का प्रचार-प्रसार भी हो रहा है जो हमारे लिये गौरव का विषय है।

प्रस्तुत श्री त्रिभंगीसार जी ग्रंथ में ७९ गाथाएँ हैं जिनमें आश्रव एवं संवर संबंधी अनेक आध्यात्मिक गूढ़ रहस्यों का सहज सरल भाषा में प्रायोगिक विवेचन किया गया है। सभी आत्मार्थी भव्य जीव इस ग्रंथ का स्वाध्याय कर मुक्ति पथ का अनुसरण करें इन्हीं मंगल भावनाओं के साथ-

भोपाल

दिनांक - १ जनवरी २००१

डॉ. दीपक जैन

संपादक- तारण बन्धु (मासिक)

करणानुयोग : श्री त्रिभंगीसार

आत्म जाग्रति और सतर्कता का संदेश

श्रीमद् जिन तारण तरण मण्डलाचार्य जी महाराज का सोलहवीं शताब्दी के तत्व चिंतक, जैन दर्शन के मूल सिद्धांत सूत्रों के सहज व्याख्याता और पाखंडवाद के उन्मूलक क्रांतिकारी जैन आचार्य के रूप में उल्लेख किया जाता है। आप जैन दर्शन के सम्प्रदायवाद के घेरे से सर्वथा मुक्ति के प्रबल पक्षधर थे यही कारण है कि आप जाति-पांति के बंधनों से परे मानवमात्र के तारणहार बने। श्री ठिकाणासागर ग्रंथ में प्राप्त तथ्यों के अनुसार आपने पूर्वापर प्रचारित षट्दर्शन तथा तत्कालीन प्रचलित अध्यात्म और योग संबंधी विचारों तथा साहित्य का विस्तृत अध्ययन किया था। आत्म साधना के मार्ग में सर्वोपरि रहते हुए भी जैनागम के मूलाधार चार अनुयोगों के आप कुशल ज्ञाता और चिंतक थे। आपके द्वारा उपदिष्ट चतुर्दश ग्रंथों में आपके अनुभव सिद्ध सैद्धांतिक चिंतन और गहन साधना का पर्याप्त परिचय प्राप्त होता है।

सारमत के तृतीय ग्रंथ श्री त्रिभंगीसार में करणानुयोग के गतिबंध विषय से संबंधित महत्वपूर्ण सूत्रों पर गंभीरता पूर्वक विचार किया गया है, जीव की वर्तमान गति (भव) में निश्चित भोगकाल के त्रिभागों में होने वाले गतिबंध और उसके कारण, आयुबंध और उससे सुरक्षा के उपायों की चर्चा प्रस्तुत ग्रंथ में विस्तार पूर्वक की गई है।

ग्रंथ की स्रक्स और सहज टीका-स्वनाम धन्य, अध्यात्म शिरोमणी, श्री गुरुवाणी के सूक्ष्म अध्येता स्वामी श्री ज्ञानानन्द जी महाराज के अनेक वर्षों के निरंतर स्वाध्याय और चिंतन के सुफल के रूप में समाज को प्राप्त हुई है। श्री तारण साहित्य के सृजन में उनका यह योगदान सदैव स्मरणीय और अनुकरणीय रहेगा।

ग्रंथ के संपादन में अध्यात्म रत्न बाल ब्र. श्री बसन्त जी का योगदान आदरणीय के साथ-साथ प्रशंसनीय है।

सिंगोड़ी (छिन्दवाड़ा) म.प्र.

दिनांक - ३१.१२.२०००

राजेन्द्र सुमन

संपादक- तारण ज्योति (मासिक)

अध्यात्म प्रबोध

श्री गुरु तारण तरण मण्डलाचार्य जी महाराज की आत्मानुभूति पूर्ण साधना चौदह ग्रंथों में श्री गुरु महाराज ने स्वयं ही स्पष्ट कर हम सभी जीवों पर महान उपकार किया है। मनुष्य भव आत्म कल्याण करने के लिए मिला है, इसमें पुरुषार्थ पूर्वक अपने कल्याण का मार्ग बनाने में ही इस जीवन की सार्थकता है।

अपने शुद्धात्म स्वरूप का श्रद्धान ज्ञान चारित्र्य यही मोक्षमार्ग है, इसी मार्ग पर चलकर अनन्त जीव सिद्ध सिद्धालय को प्राप्त हो रहे हैं, हुए हैं और भविष्य में होंगे। रत्नत्रय की एकता ही शाश्वत अनाद्यनिधन मोक्षमार्ग है, सम्यक्दृष्टि ज्ञानी आत्माथी साधक इसी मार्ग पर चलकर मुक्ति को प्राप्त करता है जबकि अज्ञानी जीव अपने स्वरूप से अपरिचित रहता है और नाना प्रकार से कर्मों का आस्रव बन्ध करके संसार परम्परा को बढ़ाता है।

श्री गुरुदेव तारण स्वामी ने उपदेश शुद्ध सार जी ग्रंथ में लिखा है कि -

अन्यान भाव सहियं, कम्म उववन्न नन्त नन्ताइ ।

अनेय काल भ्रमनं, न्यान सहाव कम्म षिपनं च ॥

अन्यानं पज्जावं, सहियं उववन्न कम्म विविहं च ।

न्यान सहावं दिट्ठं, कम्म गलियं च अंतर्मुहूर्तस्य ॥

(गाथा ५७९-५८०)

अज्ञान भाव सहित होने पर अर्थात् मोह, राग-द्वेष आदि भावों में जुड़ने पर अनन्तानन्त कर्म उत्पन्न होते हैं अर्थात् आस्रव पूर्वक कर्म बंधते हैं, जिनके कारण अनेक काल तक जीव संसार में परिभ्रमण करता है, ज्ञान स्वभाव में रहने से कर्म क्षय होते हैं।

अज्ञान भाव के कारण पर्याय में युक्त होने से विविध प्रकार के कर्मों का आस्रव बंध होता है। ज्ञान स्वभाव की दृष्टि और अपने स्वभाव में लीन रहने पर अन्तर्मुहूर्त में संपूर्ण कर्म गल जाते हैं, निर्जरित क्षय हो जाते हैं।

अज्ञान भाव से कर्मों का आस्रव और ज्ञान भाव से कर्मों से मुक्ति होती है। यही सिद्धान्त श्री त्रिभंगीसार जी ग्रंथ की प्रस्तुत अध्यात्म प्रबोध टीका में पूज्य श्री स्वामी ज्ञानानन्द जी महाराज ने अपनी भाषा में स्पष्ट किया है। श्री संघ का उद्देश्य निःस्वार्थ भाव से आत्म साधना करना एवं धर्म प्रभावना करना है इसमें किसी से कोई स्वार्थ पूर्ण सम्बन्ध नहीं है।

इन टीका ग्रंथों के माध्यम से संपूर्ण भारत वर्ष में गुरुवाणी प्रचार-प्रसार की महत्वपूर्ण भूमिका बनी है। इसका स्वाध्याय कर सभी भव्य जीव आस्रव भाव से छूटकर मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करें इसी मंगल भावना सहित -

बीना

दीपावली पर्व

दिनांक- २७.१०.२०००

ब्र. उषा जैन

संयोजिका

तारण तरण श्री संघ

ज्ञानमय भाव : मोक्षमार्ग

जो योगन की चपलाई, तातें हैं आस्रव भाई।

आस्रव दुस्वकार घनेरे, बुधिवन्त तिन्हें निस्वेरे ॥

अनादि काल से जीव अपने अज्ञान मोह रगादि विकासी परिणामों के कारण नाना प्रकार से कर्मों का बंध करके संसार में भटक रहा है, जन्म-मरण के दुःख भोग रहा है। इन दुःखों से छूटने का एक मात्र उपाय है अपने आत्म स्वरूप के अनुभव प्रमाण बोध को जाग्रत करना अर्थात् सम्यक्दर्शन को अंतर में ही प्रगटाना। सम्यक्दर्शन होने पर जीव का संसार से मुक्त होने का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। जिस प्रकार सूर्य का उदय होने पर रात्रि विलीयमान हो जाती है, इसी प्रकार सम्यक्त्व रवि के उदित होते ही मिथ्यात्व, अज्ञान अंधकार विलय अर्थात् क्षय हो जाता है।

अपने आत्म स्वरूप का बोध न होने के कारण जीव विकासी भावों में उलझकर कर्मास्रव बंध कर रहा है। अज्ञान दशा में उदयागत कर्म के निमित्त से जीव अनेक कर्म परमाणुओं का आगामी समय के लिए बंध कर लेता है, जबकि कर्मों का स्वभाव ही क्षय होने का है; किन्तु अज्ञानी जीव आत्म बोध से रहित होता है इसलिए उसे संवर पूर्वक निर्जरा नहीं होती। इसके विपरीत सम्यक्दृष्टि ज्ञानी साधक को स्व-पर का बोध जाग्रत हो गया है, वह उदयागत कर्मों का मात्र ज्ञाता होता है, कर्ता नहीं। जिस प्रकार पका हुआ फल एक बार इंटल से गिर जाने के बाद पुनः उसके संबंध को प्राप्त नहीं होता, इसी प्रकार कर्मोदय से उत्पन्न होने वाला भाव, जीव भाव से एक बार अलग होने पर फिर जीव भाव को प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार रगादि के साथ न मिला हुआ ज्ञानमय भाव सम्यक्दृष्टि ज्ञानी को उत्पन्न होता है, यही संवर रूप मोक्षमार्ग है।

श्री गुरु तारण तरण मण्डलाचार्य जी महाराज ने श्री त्रिभंगीसार जी ग्रंथ में जिस विधि विधान से आस्रव और संवर के कारणभूत भावों का विवेचन किया है, वह ऐसा प्रतीत होता है कि श्री गुरु महाराज ने आस्रव और संवर रूप अन्तर के सारे रहस्यों को प्रत्यक्ष स्पष्ट कर दिया है। श्री गुरु महाराज के द्वारा बताये गये ज्ञानमार्ग के पथ पर सतत् अग्रणी अध्यात्म शिरोमणि पूज्य श्री स्वामी ज्ञानानन्द जी महाराज ने इस ग्रंथ की अध्यात्म प्रबोध टीका करके सभी भव्य जीवों पर महान उपकार किया है। सभी साधक जन एवं आत्माथी जिज्ञासु समस्त भव्य जीव इस ग्रंथ का स्वाध्याय चिन्तन-मनन कर अपने आत्म कल्याण का पथ प्रशस्त कर सकते हैं, पूज्य श्री ने ऐसी अध्यात्म तरंग हमें प्रदान की है।

सभी भव्य जीव अज्ञान तिमिर से मुक्त हों एवं सम्यक्ज्ञान सूर्य का प्रकाश सभी के अन्तर में प्रकाशित हो यही शुभ भावना है।

दीपावली पर्व

दिनांक- २७.१०.२०००

ब्र. शान्तानन्द

चौपड़ा (महाराष्ट्र)

❀ तत्त्व मंगल ❀

देव को नमस्कार

तत्त्वं च नंद आनंद मउ, चेयन नंद सहाउ ।
परम तत्त्व पद बिंद पउ, नमियो सिद्ध सुभाउ ॥

गुरु को नमस्कार

गुरु उवएसिउ गुपित रुइ, गुपित न्यान सहकार ।
तारन तरन समर्थ मुनि, गुरु संसार निवार ॥

धर्म को नमस्कार

धम्म जु उत्तउ जिनवरहिं, अर्थति अर्थह जोउ ।
भय विनास भवु जु मुनहु, समल न्यान परलोउ ॥

देव को, गुरु को, धर्म को नमस्कार हो ।

❀ मंगलाचरण ❀

मैं ध्रुवतत्त्व शुद्धातम हूँ, मैं ध्रुव तत्त्व शुद्धातम हूँ ॥

मैं अशरीरी अविकारी हूँ, मैं अनंत चतुष्टयधारी हूँ ।
मैं सहजानंद बिहारी हूँ, मैं शिवसत्ता अधिकारी हूँ ॥
मैं परम ब्रह्म परमातम हूँ, मैं ध्रुव तत्त्व शुद्धातम हूँ ...

मैं ज्ञेय मात्र से भिन्न सदा, मैं ज्ञायक ज्ञान स्वभावी हूँ ।
मैं अलख निरंजन परम तत्त्व, मैं ममलह ममल स्वभावी हूँ ॥
मैं परम तत्त्व परमातम हूँ, मैं ध्रुव तत्त्व शुद्धातम हूँ...

मैं निरावरण चैतन्य ज्योति, मैं शाश्वत सिद्ध स्वरूपी हूँ ।
मैं एक अखण्ड अभेद शुद्ध, मैं केवलज्ञान अरूपी हूँ ॥
मैं ज्ञानानंद सिद्धातम हूँ, मैं ध्रुव तत्त्व शुद्धातम हूँ ...

श्री त्रिभंगीसार जी

जयमाल

१. आस्रव बंध तत्त्व का होना, अपना स्वयं विभाव है ।
संवर-निर्जर तत्त्व का होना, अपना शुद्ध स्वभाव है ॥
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण ही, तीन लोक में सार है ।
पाप विषय कषाय से हटना, यही त्रिभंगीसार है ॥
२. आस्रव बंध का रुकना ही तो, मोक्षमार्ग कहलाता है ।
सम्यग्दर्शन होने पर ही, निज स्वभाव दिखलाता है ॥
ज्ञानी सम्यक्दृष्टि को ही, सब संसार असार है ।
पाप विषय कषाय से हटना, यही त्रिभंगीसार है ॥
३. मोह अज्ञान के कारण प्राणी, काल अनादि भटक रहा ।
भाव शुभाशुभ कर करके ही, चारों गति में लटक रहा ॥
अपना शुद्ध स्वभाव न जाना, भटक रहा संसार है ।
पाप विषय कषाय से हटना, यही त्रिभंगीसार है ॥
४. शुभ भावों से पुण्य बंध हो, अशुभ भाव से पाप हो ।
भाव कर्म से द्रव्य कर्म हो, द्रव्य कर्म से भाव हो ॥
इसमें ही तो फँसा अज्ञानी, करता हा-हाकार है ।
पाप विषय कषाय से हटना, यही त्रिभंगीसार है ॥
५. भेदज्ञान तत्त्व निर्णय द्वारा, जिसने निज को जान लिया ।
भाव शुभाशुभ छोड़कर उसने, शुद्धभाव रस पान किया ॥
निज सत्ता शक्ति को देखा, मचती जय जयकार है ।
पाप विषय कषाय से हटना, यही त्रिभंगीसार है ॥
६. एक सौ आठ भाव आस्रव जो, कर्म बंध के कारण हैं ।
इनसे ही बच करके रहना, समझाते गुरु तारण हैं ॥

ध्रुव धाम में डटे रहो बस, इसमें ही अब सार है ।
पाप विषय कषाय से हटना, यही त्रिभंगीसार है ॥

श्री त्रिभंगीसार जी

भूमिका

श्री गुरु तारण तरण मंडलाचार्य जी महाराज द्वारा विरचित चौदह ग्रंथ

पाँच मतों में विभाजित हैं ।

७. मिथ्यात्व अविरत प्रमादकषाय यह, जीवअजीव के न्यारेहैं
कर्म रूप पुद्गल परमाणु, भाव अज्ञानी के सारे हैं ॥
भेदज्ञान से भिन्न जानना, द्वादशांग का सार है ।
पाप विषय कषाय से हटना, यही त्रिभंगीसार है ॥
८. निमित्त नैमित्तिक संबंध दोनों का, बना हुआ संसार है ।
इसी बात का ज्ञान कराने, निश्चय व व्यवहार है ॥
एकांतवादी मिथ्यादृष्टि, अनेकांत भव पार है ।
पाप विषय कषाय से हटना, यही त्रिभंगीसार है ॥
९. पाप, विषय, कषाय से हटना, व्रत संयम तप कहलाता ।
निश्चय पूर्वक इनका पालक, मुक्ति मार्ग पर बढ़ जाता ॥
जब तक दोनों साथ न होवें, तब तक न उद्धार है ।
पाप विषय कषाय से हटना, यही त्रिभंगीसार है ॥
१०. महावीर का मार्ग यही है, वीतराग बनने वाला ।
तारण पंथी वही कहाता, जो इस पर चलने वाला ॥
ज्ञानानन्द चलो अब जल्दी, अब क्यों देर दार है ।
पाप विषय कषाय से हटना, यही त्रिभंगीसार है ॥

दोहा

त्रिभंगी संसार के, जन्म-मरण के मूल ।
रत्नत्रय को धार लो, मिट जाये सब भूल ॥

भाव शुभाशुभ जीव को, भरमाते संसार ।
शुद्ध स्वभाव की साधना, करती भव से पार ॥

१. विचार मत- श्री मालारोहण, पंडितपूजा, कमलवत्तीसी जी
२. आचार मत - श्री श्रावकाचार जी
३. सार मत- श्री ज्ञानसमुच्चय सार, उपदेश शुद्ध सार, त्रिभंगीसार जी
४. ममल मत - श्री चौबीसठाणा, ममलपाहुड़ जी
५. केवल मत- श्री खातिका विशेष, सिद्ध स्वभाव, सुन्न स्वभाव,
छद्मस्थवाणी, नाममाला जी

पाँच मतों का अर्थ, अभिप्राय -

- | | | |
|----------|---|---|
| विचार मत | - | बुद्धिपूर्वक अपना निर्णय करना । |
| आचार मत | - | विवेकपूर्वक व्रत नियम संयम का पालन करना । |
| सार मत | - | अपने लिए इष्ट, उपादेय, हितकारी, क्या है
इसका यथार्थ निर्णय करना सम्यक्ज्ञान होना । |
| ममल मत | - | अपने ममल स्वभाव में रहना, शुद्धोपयोग की
साधना करना । |
| केवल मत | - | केवलज्ञान स्वभाव का आश्रय रखना । |

जब जीव बुद्धिपूर्वक अपना निर्णय करता है तब यह विदित होता है
कि यह संसार दुःखरूप है, जहाँ चार गति चौरासी लाख योनियों में जन्म-मरण का चक्र

चलता है, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव, परिवर्तन होता रहता है। अनादि अज्ञान मिथ्यात्व के कारण जीव को न अपने स्वरूप का पता है, न संसार के जन्म-मरण के दुःखों का पता है और न ही इनसे छूटने का उपाय ही मालूम है। जब जीव अपनी बुद्धि का सदुपयोग करता है, सद्गुरुओं का सत्संग, जिनवाणी का स्वाध्याय, चिन्तन, मनन करता है तब उसे अपने स्वरूप का बोध होता है और संसार का स्वरूप भी जानने में आता है। भेदज्ञान द्वारा निज शुद्धात्मानुभूति युत सम्यग्दर्शन होने से वह मुक्ति मार्ग पर चलता है। इसके लिए पाप-विषय-कषाय से छूटने-बचने के लिए व्रत, नियम, संयम का पालन करता है। सारभूत बात क्या है? इसके लिए स्व-पर का यथार्थ निर्णय करता है। अपने लिए इष्ट-उपादेय-हितकारी क्या है? इसका सही पक्का निर्णय करता है, यही सम्यग्ज्ञान है। जिसके होने पर मुक्ति मार्ग और संसार का स्वरूप स्पष्ट प्रत्यक्ष दिखता है।

भेदज्ञान, तत्त्व निर्णय पूर्वक, वस्तु स्वरूप को जानने वाला सम्यग्ज्ञानी होता है, तब सम्यग्चारित्र की साधना कर मुक्ति परमानंद, परमात्म पद की प्राप्ति होती है।

भेदज्ञान-इस शरीरादि (क्रिया और भाव) से भिन्न में एक अखण्ड, अविनाशी, चैतन्यतत्त्व भगवान आत्मा हूँ, यह शरीरादि में नहीं और यह मेरे नहीं।

ऐसा अनुभव-प्रमाण सिद्ध होना ही सम्यग्दर्शन कहलाता है।

तत्त्वनिर्णय-जिस समय, जिस जीव का, जिस द्रव्य का, जैसा जो कुछ होना है वह अपनी तत्समय की योग्यतानुसार हो रहा है और होगा उसे कोई टाल, फेर बदल सकता नहीं।

इससे जीवन में समता शांति आती है और विवेकपूर्वक संयम का पालन होता है।

वस्तुस्वरूप-में ध्रुव तत्त्व शुद्धात्मा हूँ, यह एक-एक समय की चलने वाली पर्याय और जगत का त्रिकालवर्ती परिणमन क्रमबद्ध, निश्चित, अटल है, इससे मेरा कोई संबंध नहीं है।

ऐसा अनुभूतियुत निर्णय स्वीकार होने पर सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है और साधक, ज्ञायक दशा में रहने लगता है।

सारमत का प्रयोजन ही सम्यग्ज्ञानी होना है। यह सारमत का तीसरा ग्रन्थ श्री त्रिभंगीसार है। इसके पूर्व ज्ञान समुच्चय सार और उपदेश शुद्ध सार में जिनेन्द्र कथित द्वादशांग वाणी का पूरा सार, आगम, अध्यात्म और अपने अनुभव प्रमाण सद्गुरु ने वर्णन किया है।

श्री त्रिभंगीसार का प्रयोजन साधक को सावधान करना है; क्योंकि ज्ञान का मार्ग बहुत सूक्ष्म होता है। यदि निश्चय सम्यग्दर्शन, अनुभव प्रमाण सम्यग्ज्ञान हो गया तो फिर कोई बाधा ही नहीं है, मुक्ति होना निश्चित है; परंतु यदि निश्चय सम्यग्दर्शन निज शुद्धात्मानुभूति नहीं हुई और देव-गुरु-शास्त्र के श्रद्धानपूर्वक आगम का अध्ययन किया और अपने को सम्यक्दृष्टि, ज्ञानी मान लिया तो बहुत बड़ा अहित हो जाता है।

कर्मास्रव का रुकना ही मोक्षमार्ग है। कर्मास्रव का होना ही संसार है, इसके लिए सद्गुरु तारण स्वामी ने इस त्रिभंगीसार जी ग्रन्थ में उन भावों का वर्णन किया है जिनसे कर्मास्रव होता है और जीव को नरक-निगोदादि में जाना पड़ता है। चाहते हैं मुक्ति और मिलता है निगोद, इसलिए साधक को विशेष सावधान रहना आवश्यक है; क्योंकि आगम में कहा है कि ज्ञानी अकर्ता, अभोक्ता, अबन्ध होता है; परन्तु वह ज्ञानी कौन और कैसा होता है? तथा हम क्या और कैसे हैं? यह स्वयं को स्वयं में देखना और समझना अति आवश्यक है, यदि जरा सी भी संधि रही तो मुक्ति की प्राप्ति नहीं होगी बल्कि दुर्गति जाना पड़ेगा।

अपने अंतर के सूक्ष्म परिणाम मोह-राग-द्वेषादि भाव देखना आवश्यक है क्योंकि वर्तमान में कर्मोदय निमित्त संयोग सामने है। जैसा निमित्त, संयोग, वातावरण होता है वैसे भाव अपने आप होते हैं। यदि उस समय स्वयं का होश नहीं है तो अर्थ का अनर्थ, अनन्त कर्मों का आस्रव बन्ध एक समय में हो जाता है।

किन निमित्त कारणों से कैसे भाव होते हैं और उन भावों में जुड़ने-बहने पर कैसे कर्मों का बन्ध होता है तथा कहाँ जाना पड़ता है? इन सब बातों का निरूपण इस त्रिभंगीसार जी ग्रन्थ में किया गया है, जो साधक के लिए जानना नितान्त आवश्यक है, यह करणानुयोग का विषय है। द्रव्यानुयोग के साथ करणानुयोग, चरणानुयोग का ज्ञान और अपनी समझ होना आवश्यक है।

आगम में १०८ जीवाधिकरण-भावास्रव, समरंभ-समारंभ-आरम्भ,

कृत-कारित-अनुमोदना, मन-वचन-काय, क्रोध-मान-माया-लोभ, ३ X ३ X ३ X ४
= १०८ बताये हैं। ५७ आस्रव भाव और ५७ संवर भाव भी स्पष्ट किये हैं।

आगम को अनुभव से सिद्ध करने वाला ही ज्ञानी होता है। साधक के जीवन में यह किस रूप में कैसे होते हैं? सद्गुरु ने इसके ३६ त्रिभंग करके बताए हैं। इन १०८ प्रकार से कर्मास्रव होकर दुर्गति में जाना पड़ता है तथा ३६ त्रिभंग संवर रूप भाव बताए हैं जिनसे कर्मास्रव का निरोध होकर मुक्ति की प्राप्ति होती है।

ज्ञान का मार्ग अन्तरशोधन का है। व्यवहार आचरण तो तत्समय की योग्यता, भूमिका, पर्याय की पात्रतानुसार स्वयमेव होता है। इसमें स्वच्छंदता न हो इसके लिए यह त्रिभंगीसार की रचना की गई है।

निश्चयाभासी, व्यवहाराभासी, उभयाभासी, इन तीनों से बचकर जो स्वानुभूति पूर्वक अपना मार्ग शोधन करता है, वह मुक्ति को प्राप्त करता है।

कर्मास्रव का मूल कारण आत्म प्रदेशों का संकप-परिस्पंदन रूप होना है, जिसे योग व क्रिया कहते हैं। इसमें मन-वचन-काय का निमित्त सहकारीपना है जिसके पन्द्रह भेद होते हैं। यह मन-वचन-काय के निमित्त से आत्म प्रदेशों का परिस्पंदन रूप संकप होना कर्मास्रव है और सकषाय रूप होना बन्ध है जो दसवें गुणस्थान तक होता है; अतः अपने को अबन्ध, अभोक्ता, निरास्रव मानने वाले ज्ञानी को भी सावधान रहने की आवश्यकता है। जब तक कर्मास्रव होगा, मोक्ष नहीं हो सकता, यही जैन दर्शन में महावीर का मार्ग है।

बरेली

दिनांक १.७.१९९२

ज्ञानानन्द

शुद्ध भाव से कर्मास्रव नहीं होता है। सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र्य रत्नत्रय धर्म, आस्रव बंध का कारण नहीं है यह भाव तो संवर निर्जरा का ही उपाय है; अतएव रत्नत्रय धर्म की भावना करके राग-द्वेष, मोह का त्याग करना चाहिए, यही आत्म कल्याण का सोपान है।

❀ जागरण गीत ❀

जागो हे भगवान आत्मा, जागो हे भगवान ॥

मोह नींद में क्यों सो रहे हो।

अपनी सत्ता क्यों खो रहे हो ॥

तुम हो सिद्ध समान आत्मा, जागो हे भगवान ॥१॥

नर भव में यह मौका मिला है।

सब शुभ योग सौभाग्य खिला है ॥

क्यों हो रहे हैरान आत्मा, जागो हे भगवान ॥२॥

इस शरीर से तुम हो न्यारे।

चेतन अनन्त चतुष्टय धारे ॥

तोड़ो मोह अज्ञान आत्मा, जागो हे भगवान ॥३॥

पर के पीछे तुम मर रहे हो।

पाप परिग्रह सब कर रहे हो ॥

भुगतो नरक निदान आत्मा, जागो हे भगवान ॥४॥

तुम हो शुद्ध बुद्ध अविनाशी।

चेतन अमल सहज सुखराशी ॥

कर लो भेद विज्ञान आत्मा, जागो हे भगवान ॥५॥

आयु तक का सब नाता है।

मोह यह तुमको भरमाता है।

देख लो सब जग छान आत्मा, जागो हे भगवान ॥६॥

कर्म प्रधान विश्व करि राखा।

जो जस करहि सो तस फल चाखा।

करो धरम पुण्य दान आत्मा, जागो हे भगवान ॥७॥

तारण तरण हैं तुम्हें जगा रहे।

मुक्ति मार्ग पर तुम्हें लगा रहे ॥

पाओ पद निर्वाण आत्मा, जागो हे भगवान ॥८॥

❀ ❀ ❀

❀ अनुक्रमणिका ❀

क्र.	विषय	पृष्ठ	गाथा
□	श्री त्रिभंगीसार जी : मूल गाथा सूत्र	२६-३३	
१.	मंगलाचरण	१	१
२.	आयुबन्ध कब और कैसे होता है ?	५	२
३.	आयु का त्रिभाग और आठ अपकर्षण काल का क्या विधान है ?	८	३-४
४.	आयु बन्ध से बचने का उपाय	११	५
५.	कर्माश्रय कैसे होता है ?	१२	६
६.	कर्माश्रय निरोध का उपाय	१४	७
प्रथम अध्याय : त्रिभंगी प्रवेश भाव			
१.	सुभ, असुभ, मिश्र-तीन भाव	१५	८
२.	मन, वचन, काय-तीन भाव	१७	९
३.	क्रित, कारित, अनुमति-तीन भाव	१९	१०
४.	कुमति, कुसुति, कुअवधि-तीन भाव	२१	११, १२
५.	आर्त, रौद्र, मिश्र-तीन भाव	२४	१३
६.	मिथ्यात, समय मिथ्यात, समय प्रकृति मिथ्या -तीन भाव	२७	१४
७.	मिथ्या देव, मिथ्या गुरु, मिथ्या धर्म-तीन भाव	२९	१५
८.	मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान, मिथ्या चारित्र-तीन भाव	३०	१६
९.	मिथ्या संजम, मिथ्या तप, मिथ्या परिणै-तीन भाव	३१	१७
१०.	माया, मिथ्या, निदान-तीन भाव	३३	१८
११.	राग, द्वेष, निदान-तीन भाव	३४	१९
१२.	मद, मान, माया-तीन भाव	३५	२०
१३.	कुदेव, कुगुरु, कुसास्त्र-तीन भाव	३६	२१
१४.	कुल, अकुल, कुसंग-तीन भाव	३८	२२
१५.	अत्रित, अचेत, परिनाम-तीन भाव	३९	२३
१६.	असुद्ध, अभाव, मिश्र-तीन भाव	४१	२४
१७.	आलस, प्रपंच, विनास दिष्टि-तीन भाव	४२	२५
१८.	संग, कुसंग, मिश्र-तीन भाव	४३	२६

क्र.	विषय	पृष्ठ	गाथा
१९.	आसा, स्नेह, लोभ-तीन भाव	४४	२७
२०.	लाज, भय, गारव-तीन भाव	४६	२८
२१.	गम, अगम, प्रमान-तीन भाव	४७	२९
२२.	अत्रित, स्तेय, काम-तीन भाव	४८	३०
२३.	अन्यान, रति, मिश्र-तीन भाव	५०	३१
२४.	कर्मादि, असमाधि, अस्थिति-तीन भाव	५२	३२
२५.	हास्य, रति, आर्त-तीन भाव	५४	३३
२६.	स्त्री, पुरुष, नपुंसक-तीन भाव	५६	३४
२७.	मनुष्यनी, तिर्यचनी, देवांगना-तीन भाव	५८	३५
२८.	कास्ट चित्र, पाषाण चित्र, लेप चित्र-तीन भाव	६०	३६
२९.	रूप, अरूप, लावण्य-तीन भाव	६१	३७
३०.	माया, मोह, ममत्व-तीन भाव	६२	३८
३१.	कषाय, राग, मिश्र-तीन भाव	६४	३९
३२.	कारन, कार्य, दुचित्त-तीन भाव	६६	४०
३३.	आलाप, लोकरंजन, सोक-तीन भाव	६९	४१
३४.	रसना, स्पर्शन, घ्रान-तीन भाव	७०	४२
३५.	चक्षु, श्रोत्र, उच्छाह-तीन भाव	७२	४३
३६.	आहार, निद्रा, भय-तीन भाव	७७	४४

द्वितीय अध्याय : त्रिभंगी आश्रय दलभाव निरोधन भाव

क्र.	विषय	पृष्ठ	गाथा
□	प्रतिज्ञा	८१	४५
१.	देव, गुरु, धर्म (सास्त्र)-तीन भाव	८२	४६
२.	व्यवहार दर्शन, न्यान, चारित्र-तीन भाव	८५	४७
३.	निश्चय संमिक्दर्शन, संमिक्न्यान, संमिक्चारित्र-तीन भाव	८६	४८
४.	संमिक् संजम, संमिक् तप, संमिक् परिणै-तीन भाव	८८	४९
५.	भाव सुद्ध, श्रद्धान, प्रमान-तीन भाव	९०	५०
६.	आत्म चिंतन, उपादेय, सास्वत-तीन भाव	९१	५१

क्र.	विषय	पृष्ठ	गाथा
७.	मति, सुत, अवधिन्यान-तीन भाव	९३	५२-५४
८.	रिजु विपुल, मनपर्यय, केवल स्वरूप-तीन भाव	१०४	५५, ५६
९.	स्वस्वरूप-मूल, अन्या, वेदक, -तीन भाव	१०६	५७
१०.	उपसम, ष्याइक, सुध-तीन भाव	१०६	५७
११.	पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ-तीन भाव	१०९	५८-६०
१२.	रूपातीत, अन्या, अपाय-तीन भाव	१०९	५८-६०
१३.	विपाक, संस्थान, शुक्लध्यान-तीन भाव	१०९	५८-६०
१४.	द्रव्य, भाव, सुद्ध-तीन भाव	११३	६१
१५.	तत्त्व, नित्य, प्रकासक-तीन भाव	११३	६१
१६.	तत्त्व, द्रव्य, काय -तीन भाव	११५	६२
१७.	समय, सुद्ध, सार्ध-तीन भाव	११७	६३
१८.	समय, सार्ध, ध्रुव-तीन भाव	११७	६३
१९.	संमत्त, वंदना, स्तुति-तीन भाव	११८	६४
२०.	पदार्थ, व्यंजन, स्वरूप-तीन भाव	१२०	६५
२१.	नन्द, आनन्द, सहजानन्द-तीन भाव	१२१	६६
२२.	विवहार, निश्चय, सुद्ध-तीन भाव	१२२	६७, ६८
२३.	दर्शनाचार, न्यानाचार, तपाचार-तीन भाव	१२२	६७, ६८
२४.	चारित्राचार, वीर्याचार इत्यादि भेद (२४ से ३६ पर्यंत)	१२४	६९, ७०
गाथा क्र. ६७ से ७१ तक में व्यवहार- निश्चय रूप से वर्णन किये गए हैं, जो ३६ X ३ = १०८ भेद निरोध अर्थात् १०८ आस्रव के लिये संवर रूप हैं।			
२५.	अंतिम प्रशस्ति	१२६	७१
२६.	श्री त्रिभंगीसार : सिद्धांत सूत्र	१२९-१३२	
२७.	आध्यात्मिक भजन	१३३-१५२	

जी मन, वचन, काय को रीककर आत्मज्ञान देने वाले शुद्ध निश्चयनय का आलम्बन लेकर स्वस्वरूप में एकाग्र हो जाते हैं, वे निरंतर रागादि भावों से रहित होते हुए बन्ध रहित शुद्ध समयसार स्वरूप शुद्धात्मा का अनुभव करते हैं, यही संवर मार्ग है।

श्री त्रिभंगीसार जी : मूल गाथा सूत्र

मंगलाचरण

नमस्कृतं महावीरं, भवोद्भय विनासनं।
त्रिभंगी दलं प्रोक्तं च, आस्रव निरोध कारनं ॥१॥
त्रिभंगी दल अस्मूहं, जिन उक्तं जिनागमं।
आयु त्रिभागं कृत्वा, त्रिभंगी त्रिति अस्तितं ॥२॥
आयुयं जिनं उक्तं, वर्ष षष्टानि निश्चयं।
भव्यात्मा हृदये चिंते, त्रिभंगी दल स्मृतं ॥३॥
तस्यास्ति त्रिविधिं क्रित्वा, दसास्ति त्रितय उच्यते।
मुहूर्तं जिनं प्रोक्तं, समयादि त्रितय स्तितं ॥४॥
त्रिभंगी प्रवेसं प्रोक्तं, समयादि त्रितय स्तितं।
भव्यात्मा चिंतनं भावं, सुद्धात्मा सुद्धं परं ॥५॥

१०८ जीवाधिकरण -

त्रिभंगी प्रवेसं प्रोक्तं, भावं सय अठोत्तरं।
मिथ्यात मय सम्पूर्ण, रागादि मल पूरितं ॥६॥
सम्यक् दर्शन की भावना आस्रव निरोधक है।
त्रिभंगी निरोधनं क्रित्वा, संमिक्त सुद्ध भावना।
भव्यात्मा चेतना रूपं, संमिक् दर्शनमुत्तमं ॥७॥

प्रथम अध्याय

त्रिभंगी प्रवेस भाव

१. सुभ, असुभ, मिश्र : तीन भाव
सुहस्य भावनं क्रित्वा, असुहं भाव तिष्ठते।
मिश्र भावं च मिथ्यात्वं, त्रिभंगी दल संजुतं ॥८॥
२. मन, वचन, काय : तीन भाव
मनस्य चिंतनं क्रित्वा, वचनं विपरीत उच्यते।
कर्मनं क्रित मिथ्यात्वं, त्रिभंगी दल स्मृतं ॥९॥

३. क्लृप्त, कारित, अनुमति : तीन भाव
 क्लृप्तं असुद्ध कर्मस्य, कारितं तस्य उच्यते ।
 अनुमति तस्य उत्पाद्यंते, त्रिभंगी दल उच्यते ॥१०॥
 ४. कुमति, कुश्रुति, कुअवधि : तीन भाव
 कुन्यानं त्रिविधिं प्रोक्तं, जिह्वा अग्रेण तिष्ठते ।
 छाया त्रि उवकारं, मिथ्या दिष्टि तत्परा ॥११॥
 कुमतिं क्लृत्वा मिथ्यात्वं, कुश्रुतं तस्य पश्यते ।
 कुअवधि तस्य दिष्टंते, मिथ्या माया विमोहितं ॥१२॥
 ५. आर्त, रौद्र, मिश्र : तीन भाव
 आर्त ध्यान रतो भावं, रौद्र ध्यान समं जुतं ।
 मिश्रस्य राग मयं मिथ्या, त्रिभंगी नरयं पतं ॥१३॥
 ६. मिथ्यात, समय मिथ्यात, समय प्रकृति मिथ्या : तीन भाव
 मिथ्या समयं च संपूर्णं, समय मिथ्या प्रकासए ।
 अत्रितं त्रितं जानंति, प्रकृति मिथ्या निगोदयं ॥१४॥
 ७. मिथ्यादेव, मिथ्यागुरु, मिथ्या धर्म : तीन भाव
 मिथ्यादेव गुरुं धर्मं, अत्रितं त्रित उच्यते ।
 असत्यं असास्वतं प्रोक्तं, त्रिभंगी निगोयं दलं ॥१५॥
 ८. मिथ्यादर्शन, मिथ्यान्यान, मिथ्याचारित्र : तीन भाव
 मिथ्या दर्शनं न्यानं, चरनं मिथ्या दिष्टते ।
 अलहन्तो जिनं उक्तं, निगोयं दल पश्यते ॥१६॥
 ९. मिथ्या संजम, मिथ्या तप, मिथ्या परिनै : तीन भाव
 मिथ्या संजमं क्लृत्वा, तव परिनै मिथ्या संजुतं ।
 सुद्ध तत्वं न पश्यंते, मिथ्या दल निगोदयं ॥१७॥
 १०. माया, मिथ्या, निदान : तीन भाव
 माया अत्रितं रागं, मिथ्यात मय संजुतं ।
 असत्यं निदान बन्धं, त्रिभंगी नरयं दलं ॥१८॥
 ११. राग, द्वेष, निदान : तीन भाव
 रागादि भावनं क्लृत्वा, दोषं निदान विधते ।
 अत्रितं उत्साहं भावं, त्रिभंगी थावरं दलं ॥१९॥

१२. मद, मान, माया : तीन भाव
 मदस्टं मान सम्बन्धं, माया अत्रितं क्लृप्तं ।
 भावं असुद्ध सम्पूर्णं, त्रिभंगी थावरं दलं ॥२०॥
 १३. कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र : तीन भाव
 कुदेवं कुगुरुं वन्दे, कुशास्त्रं चिंतनं सदा ।
 विकहा अत्रित सद्भावं, त्रिभंगी नरयं दलं ॥२१॥
 १४. कुल, अकुल, कुसंग : तीन भाव
 कुल भावं सदा रुस्टं, अकुलं कुसंग संगते ।
 अभावं तत्र अन्यानी, त्रिभंगी दल संजुतं ॥२२॥
 १५. अत्रित, अचेत, परिनाम : तीन भाव
 अत्रित अचेत दिष्टंते, परिनामं जत्र तिष्ठते ।
 अन्यानी मूढ दिष्टी च, मिथ्या त्रिभंगी दलं ॥२३॥
 १६. असुद्ध, अभाव, मिश्र : तीन भाव
 असुद्ध भाव संजुतं, मिश्र भाव सदा रतो ।
 संसार भ्रमनं बीजं, त्रिभंगी असुह उच्यते ॥२४॥
 १७. आलस, प्रपंच, विनासदिष्टि : तीन भाव
 आलसं प्रपंचं क्लृत्वा, विनास दिष्टि रतो सदा ।
 सुद्ध दिष्टि न हृदये चिंते, त्रिभंगी थावरं पतं ॥२५॥
 १८. संग, कुसंग, मिश्र : तीन भाव
 संग मूढ मयं दिष्टा, कुसंगं मिश्र पश्यते ।
 अलहन्तो न्यान रूपेण, मिथ्यात रति तत्परा ॥२६॥
 १९. आसा, स्नेह, लोभ : तीन भाव
 आसा स्नेह आरक्तं, लोभं संसार बन्धनं ।
 अलहन्तो न्यान रूपेण, मिथ्या माया विमोहितं ॥२७॥
 २०. लाज, भय, गारव : तीन भाव
 लाजं भयं हृदयं चिंते, गारव राग मोहितं ।
 संमिक्तं सुद्ध तिक्तंति, मिथ्या माया त्रिभंगयं ॥२८॥

२१. गम, अगम, प्रमान : तीन भाव
 गमस्य अगमं क्रित्वा, प्रमानं मिथ्या उच्यते ।
 भवस्य भय दुष्यानं, भाजनं त्रिभंगी अस्तितं ॥२९॥

२२. अत्रित, स्तेय, काम : तीन भाव
 अत्रितं त्रितं माने, स्तेयं पद लोपनं ।
 कर्मना असुह भावस्य, त्रिभंगी नरयं पतं ॥३०॥

२३. अन्यान, रति, मिश्र : तीन भाव
 अन्यानी मिथ्या भावस्य, रति मूढ मयं सदा ।
 मिश्रस्य दिस्टि मोहं, त्रिभंगी दुर्गति कारनम् ॥३१॥

२४. कर्मादि, असमाधि, अस्थिति : तीन भाव
 कर्मादि कर्म करतानि, असमाधि मिथ्या मयं जुतं ।
 अस्थिति असुद्ध परिनामं, त्रिभंगी संसार कारनं ॥३२॥

२५. हास्य, रति, आर्त : तीन भाव
 हास्य राग त्रिधंते, रति मिथ्यात भावना ।
 आर्त रौद्र संजुतं, त्रिभंगी दल पस्यते ॥३३॥

२६. स्त्री, पुरुष, नपुंसक : तीन भाव
 स्त्रियं काम त्रिधंते, पुंसं मिथ्यात संजुतं ।
 नपुंसक व्रत षंडस्य, त्रिभंगी दल तिस्टते ॥३४॥

२७. मनुष्यनी, तिर्यचनी, देवांगना : तीन भाव
 मनुष्यनी व्रत हीनस्य, तिर्यचनी असुह भावना ।
 देवांगनी मिच्छ दिस्टी च, त्रिभंगी पतितं दलं ॥३५॥

२८. कास्टचित्र, पाषान चित्र, लेप चित्र : तीन भाव
 कास्ट पाषान दिस्टं च, लेपं दिस्टि अनुरागतः ।
 पाप कर्म च त्रिधंति, त्रिभंगी असुहं दलं ॥३६॥

२९. रूप, अरूप, लावण्य : तीन भाव
 रूपं अरूप लावण्यं, दिस्टितं असुह भावना ।
 ते नरा दुष्य साहंति, त्रिभंगी दल मोहिनं ॥३७॥

३०. माया, मोह, ममत्व : तीन भाव
 माया मोह ममत्तस्य, प्रमानं असुह चिंतनं ।
 ममतं मिथ्या संजुतं, त्रिभंगी नरयं पतं ॥३८॥

३१. कषाय, राग, मिश्र : तीन भाव
 अनन्तानु कषायं च, रागादि मिश्र भावना ।
 दुष्य कर्म त्रिधंते तत्र, त्रिभंगी दुर्गति कारनं ॥३९॥

३२. कारन, कार्य, दुचित्त : तीन भाव
 कारनं मिथ्या मयं प्रोक्तं, कार्यं दुर्गति बन्धनं ।
 दुचित्तं अत्रितं वन्दे, त्रिभंगी नरय स्तितं ॥४०॥

३३. आलाप, लोकरंजन, सोक : तीन भाव
 आलापं असुहं वाक्यं, मिथ्या मय लोकरंजनं ।
 सोकं अत्रितं दिस्टा, त्रिभंगी नरयं पतं ॥४१॥

३४. रसना, स्पर्सन, घ्रान : तीन भाव
 रसनं स्पर्सनं भावं, घ्रानं घ्रान संजुतं ।
 असुहं कर्म संप्रोक्तं, त्रिभंगी दल पस्यते ॥४२॥

३५. चक्षु, श्रोत्र, उच्छाह : तीन भाव
 चक्षुं अत्रितं दिस्टा, श्रुतं विकह रागयं ।
 उच्छाह मिच्छ मयं प्रोक्तं, त्रिविधं त्रिभंगी दलं ॥४३॥

३६. आहार, निद्रा, भय : तीन भाव
 आहारं असुद्धं भावं, निद्रा मिथ्यात भूतयं ।
 भावं सुद्ध तिक्तं च, त्रिभंगी संसार भाजनं ॥४४॥

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

द्वितीय अध्याय

त्रिभंगी आश्रय दल निरोधन भाव

प्रतिज्ञा

त्रिभंगी प्रवेसं प्रोक्तं, भव्यात्मा हृदयं चिंतनं ।
 तेनाऽहं निरोधनं कृत्वा, जिन उक्तं सुद्ध दिस्टितं ॥४५॥

१. देव, गुरु, धर्म (सास्त्र): तीन भाव
 देव देवाधि देवं च, गुरु ग्रन्थस्य मुक्तयं ।
 धर्म अहिंसा उत्पाद्यं, त्रिभंगी दल निरोधनं ॥४६॥

२. व्यवहार दर्शन, न्यान, चारित्र : तीन भाव
 दर्शनं तत्त्व सार्धानं, न्यानं तत्त्वानि वेदनं ।
 स्थिरं तत्त्व चारित्रं, त्रितियं सुद्धात्मा गुणं ॥४७॥

३. निस्वय सन्म्यक्दर्शन, सन्म्यक्ज्ञान, सन्म्यक्चारित्र : तीन भाव
 संमिक् दर्शनं न्यानं, चारित्रं सुद्धात्मनं ।
 स्व स्वरूपं च आराध्यं, त्रिभंगी समय षण्डनं ॥४८॥

४. संमिक् संजम, संमिक् तप, संमिक् परिनै : तीन भाव
 संमिक् संजमं तवं चिंते, संमिक् परिनै तं धुवं ।
 सुद्धात्मा चेतना रूवं, जिन उक्तं सुद्ध दिष्टितं ॥४९॥

५. भाव सुद्ध, श्रद्धान, प्रमान : तीन भाव
 भावए भाव सुद्धं च, परमानं स्वात्म चिंतनं ।
 जिन उक्तं हृदयं सार्धं, त्रिभंगी दल षंडितं ॥५०॥

६. आत्मचिंतन, उपादेय, सास्वत : तीन भाव
 चिंतनं चेतना रूपं, उपादेय सास्वतं धुवं ।
 जिन उक्तं सुद्ध चैतन्यं, त्रिभंगी दल निरोधनं ॥५१॥

७. मति, सुत, अवधि न्यान : तीन भाव
 मति कमलासनं कंठं, जिन उक्तं स्वात्म चिंतनं ।
 उवंकारं च विंदते, सुद्ध मति सास्वतं धुवं ॥५२॥

श्रुतस्य हिदयं चिन्ते, अचष्यु दर्शन दिष्टितं ।
 उवंकारं हियंकारं च, सार्धं न्यान मयं धुवं ॥५३॥

मति श्रुतं च उत्पाद्यंते, अवधं चारित्र संजुतं ।
 षट् कमलं त्रि उवंकारं, उदयं अवधि न्यानयं ॥५४॥

८. रिजु विपुल, मनपर्जय, केवल स्वरूप : तीन भाव
 मति श्रुत अवधिं चिंते, रिजु विपुलं च जानु स्तितं ।
 स्वात्म दर्शनं न्यानं, सुचरणं मन पर्जयं ॥५५॥

चत्रु न्यानं च एकत्वं, केवलं पदमं धुवं ।
 अनन्तानन्त दिष्टिते, सुद्धं संमिक् दर्शनं ॥५६॥

९. स्वस्वरूप -मूल, अन्या, वेदक : तीन भाव
 १०. उपसम, ष्याइक, सुध : तीन भाव
 स्वस्वरूपं सुद्ध दर्वार्थं, अन्या वेदक उवसमं ।
 ष्याइकं सुद्ध धुवं चिंते, कर्मादि मल मुक्तयं ॥५७॥

११ . पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ : तीन भाव
 १२ . रूपातीत, अन्या, अपाय : तीन भाव
 १३ . विपाक, संस्थान, शुक्लध्यान : तीन भाव
 पदस्थं सुद्ध पदं सार्धं, सुद्ध तत्त्व प्रकासकं ।
 पिण्डस्थ न्यान पिण्डस्थ, स्वात्म चिंता सदा बुधै ॥५८॥

रूपस्थं सर्व चिद्रूपं, रूपातीतं विक्त रूपयं ।
 स्व स्वरूपं च आराध्यं, धर्म चक्रं न्यान रूपयं ॥५९॥

धर्म ध्यानं च संजुक्तं, औकास दान समर्थयं ।
 अन्या पाय विचय धर्म, सुक्ल ध्यानं स्वात्म दर्शनं ॥६०॥

१४. द्रव्य, भाव, सुद्ध : तीन भाव
 १५. तत्त्व, नित्य, प्रकासकं : तीन भाव
 दर्वस्य भाव सुद्धस्य, तत्त्व नित्य प्रकासकं ।
 सुद्धात्मा भावए नित्यं, त्रिभंगी दल षंडितं ॥६१॥

१६. तत्त्व, द्रव्य, काय : तीन भाव
 तत्त्वादि सप्त तत्त्वानां, दर्व काय पदार्थकं ।
 सार्धं करोति सुद्धात्मानं, त्रिभंगी समय किं करोति ॥६२॥

१७. समय, सुद्ध, सार्ध : तीन भाव
 १८. समय, सार्ध, धुव : तीन भाव
 समयं दर्शनं न्यानं, चरणं सुद्ध भावना ।
 सार्धं सुद्ध चिद्रूपं, तस्य समय सार्धं धुवं ॥६३॥

१९. संमत्त, वंदना, स्तुति : तीन भाव
 संमत्त सुद्ध दिष्टितं च, वंदना नित्य सास्वतं ।
 अस्तुतिं सुद्ध दर्वस्य, त्रिभंगी दल निरोधनं ॥६४॥

२०. पदार्थ ,व्यंजन ,स्वरूप : तीन भाव
 पदार्थ पद विन्दते, विंजनं न्यान दिस्टितं ।
 स्वरूपं सुद्ध चिद्रूपं, विंजनं पद विंदकं ॥६५॥

२१ . नन्द, आनन्द,सहजानन्द : तीन भाव
 आनन्द नन्द रूवेन, सहजानंद जिनात्मनं ।
 सुद्ध स्वरूप तत्वानं, नन्त चतुष्टय संजुतं ॥६६॥

२२. विवहार, निश्चय, सुद्ध : तीन भाव

२३. दर्सनाचार ,न्यानाचार ,तपाचार : तीन भाव

२४. चारित्राचार, वीर्याचार इत्यादि भेद
 (२४ से ३६ पर्यन्त) गाथा नं. ६७ से ७७ तक में व्यवहार -
 निश्चय रूप से वर्णन किये गये हैं । जो $3 \times 3 = 900$
 भेद निरोध अर्थात् ९०० आस्रव के लिए संवर रूप हैं ।
 विवहारं दर्सनं न्यानं, चारित्रं सुद्ध दिस्टितं ।
 निश्चये सुद्ध बुद्धस्य, त्रिस्यते स्वात्म दर्सनं ॥६७॥
 आचरणं दर्सनाचारं, न्यानं चरनस्य वीर्यं ।
 तपाचार चारित्रं च, दर्सनं सुद्धात्मनं ॥६८॥
 एतत् भावनां क्रित्वा, त्रिभंगी दल निरोधनं ।
 सुद्धात्मा स्व स्वरूपेन, उक्तं च केवलं जिनं ॥६९॥
 जिनवाणी ह्रिदयं चिंते, जिन उक्तं जिनागमं ।
 भव्यात्मा भावये नित्यं, पंथं मुक्ति श्रियं ध्रुवं ॥७०॥

अन्तिम प्रशस्ति

जिन उक्तं सुद्ध तत्त्वार्थं, सुद्धं संमिक् दर्सनं ।
 किंचित् मात्र उवएसं च, जिन तारण मुक्ति कारनं ॥७१॥



ॐ नमः सिद्धं

आचार्य प्रवर श्री मद् जिन तारण तरण स्वामी विरचित

श्री त्रिभंगीसार जी

(अध्यात्म प्रबोध -टीका)

मंगलाचरण

महावीर की देशना, जिनवाणी अनुसार ।
 निज अनुभव से सिद्ध कर, दरसाई गुरु तार ॥
 मुक्ति मार्ग के पथिक को, क्या होती भ्रम भूल ।
 सूक्ष्म मार्ग है ज्ञान का, बन जाती वह शूल ॥
 संयम तप व्रत धार कर, छोड़े विषय कषाय ।
 भाव भासना न हुई, जग में चक्कर खाय ॥
 त्रिभंगी संसार की, करती जीव का घात ॥
 त्रिभंगी हो मोक्ष की, बन जाता परमात्म ॥
 ज्ञानानन्द स्वभाव का, अनुभव प्रमाण हो लक्ष ।
 कभी लौट देखो नहीं, पर पर्याय समक्ष ॥

गाथा-१

नमस्कृतं महावीरं, भवोद्भय विनासनं ।

त्रिभंगी दलं प्रोक्तं च, आस्रव निरोध कारनं ॥

विशेषार्थ- (नमस्कृतं महावीरं) श्री भगवान महावीर को नमस्कार करता हूँ (भवोद्भय विनासनं) जिन्होंने संसार के भय का नाश कर दिया है, या नाश करने वाले हैं (त्रिभंगी दलं प्रोक्तं च) तीन-तीन भंगों के समूह पदों को कहता हूँ (आस्रव निरोध कारनं) कर्मों के आस्रव के निरोध के लिए अर्थात् जिससे कर्मों का आना बन्द हो जाये ।

विशेषार्थ- श्री जिन तारण स्वामी अन्तिम तीर्थकर श्री भगवान महावीर स्वामी को नमस्कार करते हैं जिन्होंने संसार के जन्म-मरण का नाश कर दिया है; अर्थात् जिन्होंने शाश्वत सिद्ध पद प्राप्त कर लिया है, जहाँ से पुनः संसार में आना नहीं होता । इस प्रकार श्री

गुरु नमस्कार करके कहते हैं कि - संसार चक्र कर्मास्रव से ही चलता है। इन कर्मों के आस्रव का निरोध करने के लिए, संसार के जन्म-मरण के चक्र से छूटने के लिए मैं यह त्रिभंगीसार ग्रन्थ कहता हूँ। इसमें तीन-तीन पदों के समूह से कर्मास्रव और संवर-निर्जरा का स्वरूप बताया गया है।

प्रश्न - यहाँ भगवान महावीर स्वामी को नमस्कार किया, जिन्होंने संसार के भय का नाश कर दिया, तो यह संसार का भय है क्या ?

समाधान - वस्तुतः मृत्यु का भय जिसे हम कहते हैं, वह मृत्यु का न होकर जीवन के खोने का डर है जो ज्ञात है उसके खोने का भय है। जो ज्ञात है उससे हमारा तादात्म्य है, वही हमारा होना बन गया है; वही हमारी सत्ता बन गई है। मेरा शरीर, मेरी संपत्ति, मेरी प्रतिष्ठा, मेरे संबंध, मेरे संस्कार, मेरे विश्वास, मेरे विचार यही 'मेरे' - मैं के कारण बन गये हैं, यही मैं हो गया हूँ। मृत्यु इस 'मैं' को छीन लेगी, यही भय है।

प्रश्न - इस भय से छूटने का उपाय क्या है ?

समाधान - स्व-पर का भेदज्ञान ही इस भय से छूटने का एकमात्र उपाय है। इस सत्य को जानने के लिए कोई क्रिया, कोई उपाय नहीं करना है, केवल उन तथ्यों को जानना है, उनके प्रति जागना है जिन्हें मैं अपना समझता हूँ कि-यह "मैं" हूँ जिनसे मेरा तादात्म्य है। भेद विज्ञान का जागरण, तादात्म्य तोड़ देता है, स्व और पर को पृथक् कर देता है। जहाँ यह बोध जाग जाता है कि "इस शरीरादि से भिन्न मैं एक अखण्ड अविनाशी चैतन्य तत्त्व भगवान आत्मा हूँ, यह शरीरादि मैं नहीं और यह मेरे नहीं हैं।" वहीं सारा भय समाप्त हो जाता है।

स्व-पर का तादात्म्य भय है, स्व-पर पृथक् बोध भय मुक्ति है, अभयपना है।

प्रश्न - मृत्यु क्या है ?

समाधान - मृत्यु केवल देह परिवर्तन है। वर्तमान जीवन में प्राप्त संयोग का छूट जाना ही मृत्यु है। मर्त्य देह में जो बैठा है, वह मर्त्य नहीं है। मृत्यु की परिधि है परन्तु केन्द्र पर मृत्यु नहीं है।

वह जो देख रहा है, देह और मन का दुष्टा-चेतनतत्त्व, वह जानता है कि मैं देह और मन से पृथक् हूँ। वह जान रहा है कि मेरी मृत्यु नहीं है। सत्य तो यह है कि मृत्यु केवल देह परिवर्तन है। मैं नित्य हूँ, सभी मृत्यु को पार करके भी मैं अमृत, अक्षय, अविनाशी, अशेष रह जाता हूँ; पर यह बोध अचेतन है, इसे चेतना बना लेना, अनुभव में ले लेना ही मुक्त हो जाना है। यही सम्यक्दर्शन, मुक्तिमार्ग है।

प्रश्न - संसार में जन्म-मरण का कारण क्या है ?

समाधान - जीव का अज्ञान भाव अर्थात् अपने स्वरूप को न जानना और यह शरीर ही मैं हूँ, यह शरीरादि मेरे हैं, मैं इन सबका कर्ता हूँ। इसी अज्ञान भाव से पर में मोह, राग-द्वेष होता है जिससे कर्मों का आस्रव बन्ध होता है और संसार में जन्म-मरण का चक्र चलता है।

प्रश्न - इस जन्म-मरण के चक्र से छूटने का उपाय क्या है ?

समाधान - सत्य वस्तु स्वरूप को जान लेना तथा उस रूप ही रहना, जन्म-मरण के चक्र से छूटने का उपाय है।

वस्तु स्वरूप - मैं ध्रुव तत्त्व शुद्धात्मा हूँ। यह एक-एक समय की चलने वाली पर्याय और जगत का त्रिकालवर्ती परिणमन क्रमबद्ध निश्चित अटल है, इससे मेरा कोई संबंध नहीं है। ऐसा अनुभूति युत निर्णय स्वीकार करने वाला ज्ञानी-ज्ञायक है। अब उस रूप रहने के लिए पाप-विषय-कषायों से हटना आवश्यक है। भगवान महावीर की दिव्य देशना में जो वस्तु स्वरूप आया है वह निश्चय व्यवहार से समन्वित है। धर्म का स्वरूप अनेकान्तमयी है, इस तथ्य को यथार्थ जानने वाला और सही पालन करने वाला ही जिनेन्द्र का अनुयायी, सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी, मुक्तिमार्ग का पथिक है।

प्रश्न - जब वस्तु स्वरूप जान लिया, ज्ञानी ज्ञायक हो गया फिर पाप विषय-कषायों से हटने की क्या आवश्यकता है, यह तो पर्यायी परिणमन है जो क्रमबद्ध निश्चित है ?

समाधान - जैन दर्शन की यही विशेषता है जो निश्चयाभासी, व्यवहाराभासी, उभयाभासी होने से बचाती है। अभी वस्तु स्वरूप जैसा जाना है वैसा हुआ नहीं है। द्रव्य स्वभाव से तो वस्तु वैसी ही है पर अभी पर्याय में अशुद्धि है। वर्तमान में जीव का और पुद्गल कर्मों का निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। दोनों द्रव्य एक क्षेत्रावगाह मिले हुए हैं। जीव और पुद्गल का अपने-अपने स्वरूप में परिपूर्ण शुद्ध हो जाना ही मोक्ष है। इसके लिए भेदज्ञान आवश्यक है; तथा पाप-विषय-कषाय से हटने पर ही स्वरूप की साधना हो सकती है। जब तक विषयों में रत रहेंगे तब तक पर-पर्याय पर ही दृष्टि रहेगी जिससे कर्मों का आस्रव-बन्ध होता है।

पापों में रत रहने वाला अव्रती, विषयों में रत रहने वाला असंयमी और कषायों में रत रहने वाला रागी होता है, इसलिए व्रत-संयम-तप आवश्यक हैं। वीतरागी होने पर ही कर्मों से छुटकारा होता है।

प्रश्न - यह कर्मास्रव का निरोध कब और कैसे होता है ?

समाधान - कर्मास्रव का निरोध कब और कैसे होता है ? यह जानने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि कर्मास्रव कहाँ तक और कैसे होता है ? वस्तुतः मिथ्यात्व गुणस्थान में संसारी जीव को निरंतर कर्मास्रव और बन्ध होता है। जीव की पर पर्याय की तरफ दृष्टि होना ही कर्मास्रव है।

आत्मा के अनन्त गुणों में से एक गुण योग है यह अनुजीवी गुण है। इस गुण की पर्याय में दो भेद होते हैं -

१. परिस्पंदन रूप अर्थात् आत्म प्रदेशों के कंपन रूप।

२. आत्म प्रदेशों की निश्चलता रूप-निष्कंप रूप।

प्रथम, योग गुण की पर्याय अशुद्ध होती है और दूसरी, योग गुण की शुद्ध पर्याय होती है। योग गुण की अशुद्ध पर्याय को योग कहा है जिससे कर्मास्रव होता है। इसमें मन, वचन, काय का निमित्त सहकारीपना होने से योग के १५ भेद हो जाते हैं। इनमें जीव का रत रहना अथवा राग-द्वेष रूप रहना कषाय है। योग से कर्मास्रव होता है और कषाय से कर्मों का बन्ध होता है। चौथे गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक कर्मास्रव और बंध होता है, जिसे साम्प्रायिक आस्रव कहते हैं।

ग्यारहवें गुणस्थान से तेरहवें गुणस्थान तक ईर्यापथ आस्रव होता है, वहाँ कषाय न होने से स्थिति और अनुभाग बंध नहीं होता, शेष प्रकृति और प्रदेश बंध, कषाय का अभाव होने से सहज निकलते चले जाते हैं।

जब तक जीव संसार में शरीरादि संयोग में है तब तक कर्मोदय का और जीव के भाव का निमित्त-नैमित्तिक सम्बंध है। अज्ञान-मिथ्यात्व दशा में तो वह एक रूप ही रहता है, कर्मादि से भिन्नत्व का बोध ही नहीं है। भेदज्ञान पूर्वक सम्यग्दर्शन होने पर भिन्नत्व भासित होता है। चौथे गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक योग और कषाय के उदयानुसार कर्मास्रव बंध होता है।

इनसे ऊपर उठने पर ही कर्मास्रव का निरोध और संसार से मुक्ति होती है। मिथ्यादृष्टि संसारी जीव को तो निरंतर कर्मों का आस्रव-बन्ध होता है। सम्यग्दर्शन होने पर चौथे गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक जितने अंश में वीतरागता होती है उतने अंश में आस्रव और बन्ध नहीं होते तथा जितने अंश में राग-द्वेष होता है, उतने अंश में आस्रव और बन्ध होता है।

कम्म सहावं षिपनं, उत्पत्ति षिपिय दिस्ति सभावं ।

चेयन रूव संजुत्तं, गलियं विलयं ति कम्म बंधानं ॥

॥ श्री कमल बत्तीसी गाथा-६ ॥

कर्मों का स्वभाव नाशवान क्षय होने का है। दृष्टि के सद्भाव पर कर्मों का आस्रव और क्षय होता है अर्थात् दृष्टि(उपयोग) बाहर, पर पर्याय की तरफ हो तो कर्मों का आस्रव होता है और दृष्टि स्वभाव पर है तो कर्मों का क्षय होता है। अपने चैतन्य स्वभाव में लीन होने पर संपूर्ण कर्म गल जाते हैं।

कर्मास्रव का निरोध अपने शुद्ध स्वभाव में लीन रहने पर होता है।

विशेष-आयुर्कर्म के अतिरिक्त अन्य सात कर्मों का आस्रव बंध प्रति समय हुआ करता है। आयु कर्म का बन्ध लेझ्या के अनुसार होता है।

प्रश्न -यह कर्मों का आस्रव बन्ध दसवें गुणस्थान तक किस प्रकार होता है ?

समाधान - आत्मा के प्रदेशों का परिस्पंदन रूप जो योग है वह क्रिया है। इसमें मन, वचन, काय निमित्त होते हैं, यह क्रिया सकषाय योग से दसवें गुणस्थान तक होती है। पौद्गलिक मन, वचन, काय की कोई भी क्रिया आत्मा की नहीं है और न ही आत्मा को लाभदायक या हानिकारक है। जब आत्मा सकषाय योग रूप से परिणमे और नवीन कर्मों का आस्रव हो तब आत्मा का सकषाय योग उन पुद्गल आस्रव में निमित्त है और पुद्गल स्वयं उस आस्रव का उपादान कारण है। भावास्रव का उपादान कारण आत्मा की उस अवस्था की योग्यता है और निमित्त पूर्वबद्ध कर्मों का उदय है।

प्रश्न -यह आयुबन्ध कब और कैसे होता है ?

समाधान - इस प्रश्न के समाधान में श्री गुरु तारण तरण मंडलाचार्य जी महाराज आगे गाथा कहते हैं -

गाथा-२

त्रिभंगी दल अस्मूहं, जिन उक्तं जिनागमं ।

आयु त्रिभागं कृत्वा, त्रिभंगी त्रिति अस्तितं ॥

अन्वयार्थ- (त्रिभंगी दल अस्मूहं) त्रिभंगी अर्थात् तीन-तीन भेद (भंगों) के अनेक समूह हैं (जिन उक्तं जिनागमं) जिनेन्द्र कथित जिनवाणी में कहे हैं (आयु त्रिभागं कृत्वा) आयु का त्रिभाग किया जाता है अर्थात् आयु का बंध आयु के त्रिभाग में होता है (त्रिभंगी

त्रिति अस्तित्व) उस त्रिभाग के भी तीन-तीन भेद किए जाते हैं।

विशेषार्थ- जिनेन्द्र कथित जिनवाणी में त्रिभंगी अर्थात् तीन-तीन बातों की बड़ी विशेषता है और ऐसे अनेक त्रिभाग समूह हैं। उस त्रिभाग में यह आयु का त्रिभाग भी किया जाता है जिससे आयु बन्ध होता है। यह आठ त्रिभाग में होता है जिसका स्पष्टीकरण अगली गाथा में किया गया है।

इस आयु के त्रिभाग में आयु का बन्ध उस समय की लेश्या के अनुसार होता है। कषाय से अनुरजित योग प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। इसके छह भेद होते हैं-कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल।

१. कृष्ण लेश्या - तीव्र क्रोधी, बैर न छोड़े, लड़ना जिसका स्वभाव हो, धर्म और दया से रहित हो, दुष्ट हो, किसी के वश में न आता हो, ऐसे परिणामों वाला जीव कृष्ण लेश्या वाला होता है।

२. नील लेश्या - जो कार्य करने में मंद हो, विवेक रहित हो, अज्ञानी हो, विषयों में रत हो, भीरु, अति सोने वाला हो, दूसरों को ठगने में चतुर हो, धन-धान्य के विषय में तीव्र लालसा हो, ऐसे परिणामों वाला जीव नील लेश्या वाला होता है।

३. कापोत लेश्या - जो दूसरों पर क्रोध करता है, दूसरों की निंदा करता है, दूसरों पर दोष लगाता है, शोक और भय से व्याप्त रहता है, अपनी बहुत प्रशंसा करता है, दूसरों का विश्वास नहीं करता, अपने समान ही दूसरों को मानता है, स्तुति करने वाले पर प्रसन्न होता है। स्तुति करने वाले को बहुत धन दे डालता है। युद्ध में मरने के लिए तैयार रहता है। अपने हानि-लाभ की परवाह नहीं करता और कार्य-अकार्य को नहीं गिनता, ऐसे परिणामों वाला जीव कापोत लेश्या वाला होता है।

४. पीत लेश्या - जो कार्य-अकार्य को जानता है, सेव्य-असेव्य का विवेक रखता है, सबको समान रूप से देखता है, दान और दया में तत्पर रहता है और कोमल परिणामी होता है, ऐसे परिणामों वाला जीव पीत लेश्या वाला होता है।

५. पद्म लेश्या - जो त्यागी है, भद्र परिणामी है, निरन्तर कार्य करने में तत्पर रहता है, अनेक अपराधों को क्षमा कर देता है, साधुओं और गुरुजनों की पूजा में रत रहता है, ऐसे परिणामों वाला जीव पद्म लेश्या वाला होता है।

६. शुक्ल लेश्या - जो पक्षपात नहीं करता, निदान नहीं बांधता, सबके साथ समान व्यवहार करता है, इष्ट और अनिष्ट विषयों में राग-द्वेष नहीं करता तथा पुत्र-मित्रादि में जो स्नेह रहित

है, ऐसे परिणामों वाला जीव शुक्ल लेश्या वाला होता है।

कृष्ण लेश्या वाला जीव नियम से नरक जाता है। कृष्ण-नील वाला जीव भी नरक जाता है। नील और नील-कापोत वाला तिर्यच गति जाता है। कापोत-पीत वाला जीव मनुष्य होता है। पीत-पद्म वाला देव होता है। पद्म और शुक्ल लेश्या वाला नियम से देवगति जाता है।

(नोट : विशेष जानकारी के लिए षट् खण्डागम तथा जीवकांड गोम्मटसार आदि ग्रन्थ देखें)

कषाय सहित योग आस्रव का कारण है, इसे साम्प्रायिक आस्रव कहते हैं। कषाय शब्द में मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद इन तीनों का समावेश हो जाता है; इसलिए अध्यात्म शास्त्रों में मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमाद तथा योग को आस्रव का भेद गिना जाता है। यदि उन भेदों को बाह्य रूप में स्वीकार करे और अन्तरंग में उन भावों की जाति की यथार्थ पहिचान न करे तो वह मिथ्यादृष्टि है। यदि मात्र बाह्य क्रोध को कषाय समझे तथा अभिप्राय में रहने वाले राग-द्वेष जो मूल क्रोध है, को न समझे तो मिथ्या मान्यता दूर नहीं होती। बाह्य चेष्टा मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को योग समझे और शक्तिभूत आत्मप्रदेशों के परिस्पंदन रूप योग को न जानें तो मिथ्या मान्यता दूर नहीं होती इसलिए अपने अंतरंग भाव पहिचान कर उस सम्बन्धी मान्यता दूर करना चाहिए।

आयुबन्ध विवेचन -

अपनी भुज्यमान आयु के अधिक से अधिक छह माह शेष रहने पर देव और नारकी-मनुष्यायु अथवा तिर्यचायु का ही बन्ध करते हैं।

मनुष्य और तिर्यच अपनी आयु के तीसरे भाग के शेष रहने पर चारों आयु में से योग्यतानुसार किसी भी एक आयु को बांधते हैं।

भोग भूमि के जीव अपनी आयु के छह माह शेष रहने पर देवायु का ही बन्ध करते हैं। एकेन्द्रिय और विकलत्रय जीव मनुष्यायु व तिर्यचायु में से किसी एक को बांधते हैं परंतु तेजकायिक, वायुकायिक जीव और सातवीं पृथ्वी के नारकी तिर्यचायु का ही बन्ध करते हैं। एक जीव के एक भव में एक ही आयु बंध रूप होती है। तब भी योग्य काल में आयु आठ त्रिभाग में ही बंधती है तथा वहाँ पर भी वह सब जगह आयु का तीसरा-तीसरा भाग शेष रहने पर लेश्या के अनुसार ही बंधती है। आठ अपकर्षणों (त्रिभागों) में पहली बार के बिना द्वितीयादि बार में जो पहले आयु बांधी थी, उसी की स्थिति की वृद्धि व हानि अथवा अवस्थिति

होती है। आयु बंध बदलता नहीं है। आयु के बन्ध करने पर जीवों के परिणामों के निमित्त से उद्भूत प्राप्त आयु का अपवर्तन घात भी होता है।

प्रश्न - आयुबन्ध और गति बन्ध में क्या भेद है ?

समाधान - आयुबन्ध - आठ द्रव्य कर्म के भेद में आयु कर्म है; इसलिये यह आयु कर्म का ही बन्ध होता है। आयु कर्म के भी चार भेद हैं - नरक, तिर्यच, देव, मनुष्य। गति - द्रव्य कर्म के एक भेद, नाम कर्म की, गति नाम की प्रकृति है इसके भी चार भेद हैं - नरक, तिर्यच, देव, मनुष्य; परंतु यह प्रकृति है जिसके अनुसार शरीरादि की रचना होती है। यह परिणामों के अनुसार बदलती भी रहती है। आयु कर्म बदलता नहीं है।

प्रश्न - आयु कर्म का बंध लेझ्या से ही क्यों होता है ? शारीरिक क्रिया भाव आदि के अनुसार क्यों नहीं होता है ?

समाधान - शारीरिक क्रिया भाव आदि के अनुसार शेष सात कर्मों का आस्रव बंध होता है। आयु कर्म की विशेषता यह है कि आयुबन्ध हुए बिना जीव एक आयु पूर्ण होने के पश्चात् कहाँ जाएगा ? दूसरे भव में जाने के पूर्व उसका आयुबन्ध होना आवश्यक है। यह लेझ्या के आधार पर इसलिए होता है क्योंकि नरक-निगोदादि के जीवों की क्रिया और भाव तो अवतल्य हैं, वहाँ तो लेझ्या के आधार पर ही आयुबन्ध होता है; इसलिए आयुबन्ध का संबंध लेझ्या से ही है।

प्रश्न - आयु का त्रिभाग और आठ अपकर्षण काल का क्या विधान है ?

समाधान - इस प्रश्न के समाधान में श्री गुरु महाराज आगे की गाथा कहते हैं -

गाथा - ३, ४

आयुयं जिनं उक्तं, वर्ष षष्टानि निश्चयं ।
भव्यात्मा हृदये चिंते, त्रिभंगी दल स्मृतं ॥
तस्यास्ति त्रिविधिं क्रित्वा, दसास्ति त्रितय उच्यते ।
मुहूर्तं जिनं प्रोक्तं, समयादि त्रितय स्तितं ॥

अन्वयार्थ - (आयुयं जिनं उक्तं) जिनेन्द्र भगवान ने आयुबन्ध का जो काल कहा है (वर्ष षष्टानि निश्चयं) यदि किसी की आयु साठ वर्षों की निश्चय की जावे (भव्यात्मा हृदये चिंते) भव्यजीव इसके संबंध में मन में विचार करें (त्रिभंगी दल स्मृतं) इसके त्रिभाग का समय अपनी स्मृति में रखें।

(तस्यास्ति त्रिविधिं क्रित्वा) इस प्रकार त्रिभाग करके (दसास्ति त्रितय

उच्यते) इसको आठ अपकर्षण काल की त्रिभंगी कहते हैं (मुहूर्तं जिनं प्रोक्तं) और जिनेन्द्र परमात्मा ने कहा है कि इन त्रिभागों में आयुबन्ध न होवे तो आयु पूर्ण होने के अन्तर्मुहूर्त पहले अवश्य ही आयुबन्ध होता है (समयादि त्रितय स्तितं) इसलिए आत्मा को हमेशा सावधान, अपने रत्नत्रय स्वरूप की साधना में रत रहना चाहिए।

विशेषार्थ - आयुबन्ध का विधान जिनेन्द्र परमात्मा के कहे अनुसार होता है। कर्मभूमि के मनुष्य एवं तिर्यच की आयु के बन्ध की रीति यह है कि जितनी आयु हो उसका तीसरा भाग शेष रहने पर एक अन्तर्मुहूर्त के लिए आगामी आयु के बन्ध का काल आता है। यदि उसमें आयुबन्ध न हुआ हो तो शेष आयु के त्रिभाग पर फिर आयुबन्ध का समय आता है और इस प्रकार आठ बार ऐसा त्रिभाग काल आता है। इसमें आयुबन्ध हो गया तो ठीक वरना मृत्यु के अन्तर्मुहूर्त पहले आयुबन्ध अवश्य होता है, तब ही यह जीव दूसरी पर्याय में जाता है।

जो मोक्षगामी जीव होते हैं उनका आयुबन्ध नहीं होता, आयुबन्ध होने से संसार में जन्म-मरण करना पड़ता है; इसलिए जिनेन्द्र परमात्मा कहते हैं कि हमेशा अपने शुद्धात्म स्वरूप का स्मरण रखना चाहिए।

आयु साठ वर्ष होने पर आठ अपकर्षण काल का विधान निम्न प्रकार से आयेगा -

पहला त्रिभाग	-	२० वर्ष शेष रहने पर
दूसरा त्रिभाग	-	६ वर्ष ८ माह शेष रहने पर
तीसरा त्रिभाग	-	२ वर्ष २ माह २० दिन शेष रहने पर
चौथा त्रिभाग	-	८ माह २६ दिन १६ घण्टे शेष रहने पर
पांचवाँ त्रिभाग	-	२ माह २८ दिन २१ घण्टे २० मिनट शेष रहने पर
छठवाँ त्रिभाग	-	२९ दिन १५ घण्टे ६ मिनट ४० सेकेण्ड शेष रहने पर
सातवाँ त्रिभाग	-	९ दिन २१ घण्टे २ मिनट १३ सेकेण्ड शेष रहने पर
आठवाँ त्रिभाग	-	३ दिन ७ घण्टे ४४ सेकेण्ड शेष रहने पर।

यदि आठों त्रिभाग कालों में आयु कर्म न बंधे तो मरण के अन्तर्मुहूर्त पहले अवश्य ही आयु कर्म बंधता है। एक त्रिभाग में आयु बंध हो जाने पर आगे के त्रिभागों में आयु बंध तो वही रहेगा परन्तु स्थिति कम या अधिक हो सकती है।

आयु कर्म मीमांसा - भुज्यमान (भोगी जाने वाली) आयु कर्म के रजकण दो प्रकार के

होते

हैं-निरूपक्रम और सोपक्रम।

निरूपक्रम - आयु के प्रमाण में भुज्यमान आयु में से प्रति समय समान निषेक निर्जीरित होते हैं, इस प्रकार की आयु निरूपक्रम है अर्थात् अपवर्तन रहित है।

सोपक्रम - जिस आयुकर्म के भोगने में पहले तो समय-समय में समान निषेक निर्जीरित होते हैं किन्तु उसके अन्तिम (समय) भाग में बहुत से निषेक एक साथ निर्जीरित हो जायें इस प्रकार की आयु सोपक्रम कहलाती है।

आयुकर्म के बन्ध में ऐसी विचित्रता है कि जिसके निरूपक्रम आयु का उदय हो उसके समय-समय पर समान निर्जरा होती है इसलिए वह उदय कहलाता है। सोपक्रम आयु वाले के पहले अमुक समय तो उपर्युक्त प्रकार से ही निर्जरा होती है तब उसे उदय कहते हैं; परन्तु अन्तिम समय अन्तर्मुहूर्त में सभी निषेक एक साथ निर्जीरित होते हैं इसलिए उसे उदीरणा कहते हैं। वास्तव में किसी की आयु बढ़ती या घटती नहीं है परन्तु निरूपक्रम आयु का सोपक्रम आयु से अन्तर बताने के लिए सोपक्रम आयु वाले जीव की अकालमृत्यु हुई, ऐसा व्यवहार में कहा जाता है।

सोपक्रम कदलीघात अर्थात् वर्तमान के लिए अपवर्तन होने वाली आयु वाले के बाह्य में विष, वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्राघात, श्वासावरोध, अग्नि, जल, सर्प, अजीर्ण भोजन, वज्रपात, सूली, हिंसक जीव, तीव्र भूख या प्यास आदि निमित्त होते हैं।

आयु का घात दो प्रकार से होता है-अपवर्तन और कदलीघात।

अपवर्तन घात - बध्यमान आयु का घटना, जैसे- किसी मनुष्य ने अपने शुभ परिणामों से अधिक समय की देव आयु बांध ली, इसके पश्चात् उसी भव में संक्लेश परिणाम से उस आयु की स्थिति का घात किया, तो कम समय की देव आयु मिली; अथवा राजा श्रेणिक ने सातवें नरक की आयु का बन्ध किया था उस भव में भगवान महावीर के समवशरण में परिणामों की विशुद्धि से वह पहले नरक की आयु रह गई, यह आयुबंध जीव घातायुष्क अपवर्तन घात कहलाता है।

कदलीघात-भुज्यमान (भोगने में आने वाली) आयु का घटना कदलीघात है जैसे अकाल मृत्यु आदि। देव और नरक आयु में कदलीघात नहीं होता।

सभी कर्मों का राजा मोहनीय कर्म है, इसकी सत्ता के आधार पर ही समस्त कर्मों का परिणाम होता है; परन्तु जीव को संसार में रोकने वाला प्रमुख आयुकर्म है। तीर्थंकरों को भी एक

समय पूर्व मोक्ष नहीं जाने देता। आयुकर्म जीव के आंतरिक परिणाम लेइया से बंधता है।

प्रश्न-हमें यह कैसे पता लगेगा कि हमारी आयु कितनी है और आयुबन्ध का त्रिभाग कब आयेगा ?

समाधान - यह अवधिज्ञानी या केवलज्ञानी के ज्ञान का विषय है। इसका जीव को न तो पता लगता है और न ही लगाना चाहिए। यदि दृष्टि का परिवर्तन हुआ है, मुक्ति की भावना है तो कर्मास्रव का निरोध करना चाहिए और हमेशा स्वस्थ सावधान अपने में लीन रहना चाहिए। आयुबंध तो संसार का ही कारण है।

प्रश्न -आयुबन्ध से बचने के लिए क्या करें ?

समाधान- इसके समाधान में श्री गुरु तारण स्वामी आगे की गाथा कहते हैं-

गाथा-५

त्रिभंगी प्रवेसं प्रोक्तं, समयादि त्रितय स्तितं ।

भव्यात्मा चिंतनं भावं, सुद्धात्मा सुद्धं परं ॥

अन्वयार्थ-(त्रिभंगी प्रवेसं प्रोक्तं) त्रिभंगी द्वारा आयुबन्ध का स्वरूप कहा गया है (समयादि त्रितय स्तितं) समयादि का अर्थ दोनों पक्ष से है, उस समय के त्रिभाग में स्थित रहना, आयुबन्ध का कारण है और अपने आत्मस्वरूप के सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थित रहना, आयुबन्ध से मुक्त होना है (भव्यात्मा चिंतनं भावं) भव्य जीव को इस बात का स्वयं विचार करना चाहिए (सुद्धात्मा सुद्धं परं) अपना शुद्धात्म स्वरूप तो परम शुद्ध है।

विशेषार्थ- शुभभाव और अशुभभाव दोनों कषाय हैं, जिनसे कर्मबन्ध होता है इसलिए यह संसार के ही कारण हैं, शुभ भाव बढ़ते-बढ़ते उससे शुद्ध भाव नहीं हो सकता।

शुद्ध के अभेद आलम्बन पूर्वक अर्थात् “मैं ध्रुव तत्त्व शुद्धात्मा हूँ परम पारिणामिक मात्र परम शुद्ध चेतन सत्ता हूँ।” इस स्थिति में रहने पर सब कर्मास्रव आयुबन्ध आदि से बचा जा सकता है।

जितने अंश में शुद्धता प्रगट होती है उतने अंश में धर्म है, यही मुक्ति मार्ग है। शुभ-अशुभ भाव से कर्मास्रव, कर्मबन्ध होता है, ऐसा विचार भव्य जीव को करना चाहिए और कर्मास्रव के कारणों से बचकर अपने शुद्धात्मा

के परम शुद्ध स्वभाव में रहना चाहिए, इसी से कर्मास्रव, आयुबन्ध से बचा जा सकता है।

आस्रव बन्ध में विशेषता का कारण-तीव्रभाव, मंदभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण विशेष और वीर्य विशेष से कर्मास्रव में विशेषता, हीनाधिकता होती है। आयुकर्म के अतिरिक्त अन्य सातकर्मों का आस्रव प्रति समय हुआ करता है।

कर्मास्रव से बचने का उपाय- स्व शुद्धात्मा के परम शुद्ध स्वभाव में रहना, सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र में रत रहना ही कर्मास्रव से बचने का उपाय है।

प्रश्न -यह कर्मास्रव कैसे होता है ?

समाधान-इस प्रश्न के समाधान में श्रीगुरु आगे की गाथा कहते हैं-

१०८ जीवाधिकरण -

गाथा-६

त्रिभंगी प्रवेसं प्रोक्तं, भावं सय अठोत्तरं ।

मिथ्यात मय सम्पूर्ण, रागादि मल पूरितं ॥

अन्वयार्थ-(त्रिभंगी प्रवेसं प्रोक्तं) कर्मास्रव की त्रिभंगी प्रवेश कहते हैं (भावं सय अठोत्तरं) एक सौ आठ भाव जीवाधिकरण से कर्मास्रव होता है (मिथ्यात मय सम्पूर्ण) मिथ्यात्व से परिपूर्ण और (रागादि मल पूरितं) रागादि मल से भरे हुए होने से तीव्र कर्मबन्ध होता है।

विशेषार्थ-आत्मा में जो कर्मास्रव होता है, उसमें दो प्रकार का निमित्त होता है। एक जीव निमित्त और दूसरा अजीव निमित्त। जीव-अजीव का पर्यायी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है।

जीव-अजीव का सामान्य अधिकरण (निमित्त) नहीं किन्तु जीव-अजीव के विशेष (पर्याय) अधिकरण होते हैं।

१. जीवाधिकरण आस्रव-समरम्भ-समारम्भ-आरम्भ, मन-वचन-काय, कृत कारित-अनुमोदना तथा चार कषाय क्रोध-मान-माया-लोभ की विशेषता से ३ X ३ X ३ X ४ = १०८ भेद रूप हैं।

समरम्भादि तीन भेद हैं। प्रत्येक में मन-वचन-काय यह तीन भेद लगाने से नौ भेद हुए। इन प्रत्येक भेद में कृत-कारित-अनुमोदना तीन भेद लगाने से २७

भेद हुए और इन प्रत्येक में क्रोध-मान-माया-लोभ यह चार भेद लगाने से १०८ भेद होते हैं। यह सब भेद जीवाधिकरण आस्रव हैं।

अनन्त संसार का कारण होने से मिथ्यात्व को अनन्त कहा जाता है।

उसके साथ जिस कषाय का बन्ध होता है उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं। कषाय के चार भेद होते हैं-अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन।

अनन्तानुबन्धी कषाय-जिस कषाय से जीव, स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट न कर सके उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं।

अप्रत्याख्यान कषाय-जिस कषाय से जीव एकदेश रूप संयम (सम्यग्दृष्टि श्रावक के व्रत) किंचित् मात्र भी धारण न कर सके उसे अप्रत्याख्यान कषाय कहते हैं।

प्रत्याख्यान कषाय-जिस कषाय से जीव सम्यग्दर्शन पूर्वक सकल संयम को ग्रहण न कर सके उसे प्रत्याख्यान कषाय कहते हैं।

संज्वलन कषाय-जिस कषाय से जीव का संयम तो बना रहे परन्तु शुद्ध स्वभाव में, शुद्धोपयोग में पूर्णरूप से लीन न हो सके उसे संज्वलन कषाय कहते हैं।

समरम्भ-किसी भी विकारी कार्य के करने के संकल्प करने को समरम्भ कहा जाता है। संकल्प दो तरह का होता है- १. मिथ्यात्व रूप संकल्प २. अस्थिरता रूप संकल्प
समारम्भ-उक्त निर्णय (संकल्प) के अनुसार साधन मिलाने के भाव को समारम्भ कहा जाता है।

आरम्भ-उस कार्य के प्रारम्भ करने को आरम्भ कहते हैं।

कृत-स्वयं करने के भाव को कृत कहते हैं।

कारित-दूसरे से कराने के भाव को कारित कहते हैं।

अनुमोदना-जो दूसरे करें उसे भला समझना ही अनुमोदना करना है।

मिथ्यात्व रागादि भाव सहित १०८ प्रकार से कर्मों का आस्रव होता है। यह संसार वर्धक घोर पाप बन्ध का कारण है। जीव का अज्ञान मिथ्यात्व ही कर्मास्रव का मूल कारण है जिससे वह अनादि से संसार में परिभ्रमण कर रहा है।

प्रश्न -जीव का अज्ञान मिथ्यात्व कर्मास्रव का कारण है तो कर्मास्रव के निरोध का उपाय क्या है ?

समाधान-इसके समाधान में श्री गुरु तारण स्वामी आगे की गाथा कहते हैं-

सम्यग्दर्शन की भावना आस्रव निरोधक है ।

गाथा-७

त्रिभंगी निरोधनं क्रित्वा, संमिक्त सुद्ध भावना ।

भव्यात्मा चेतना रूपं, संमिक् दर्शनमुत्तमं ॥

अन्वयार्थ- (त्रिभंगी निरोधनं क्रित्वा) कर्मास्रव की त्रिभंगी का निरोध करने के लिए (संमिक्त सुद्ध भावना) शुद्ध सम्यग्दर्शन की भावना करना चाहिए (भव्यात्मा चेतना रूपं) भव्यजीव को अपने चैतन्य स्वरूप की अनुभूति होना (संमिक् दर्शनमुत्तमं) यही उत्तम या निश्चय सम्यग्दर्शन है जिससे कर्मास्रव का निरोध होता है।

विशेषार्थ- मिथ्यादर्शन सहित सभी भाव संसार के कारण कर्मबन्ध के कारक हैं, इसलिए मिथ्यात्व सहित सर्व भावों का निरोध करके सम्यग्दर्शन की भावना करना चाहिए। जहाँ निज शुद्धात्मा का अनुभव हुआ वही निश्चय या उत्तम सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन का होना ही कर्मास्रव के निरोध का मूल है।

पुण्य-पाप रहित निज शुद्धात्मा, भूतार्थ ज्ञायक स्वभाव की अन्तर्दृष्टि होने पर स्वानुभूति प्रगट होती है, यही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। आत्मा को चेतना गुणमय बतलाया है क्योंकि ज्ञान की पर्याय का अंश प्रगट है अतः चेतना गुणमय त्रिकाल है। आनंद का अंश तो तब प्रगट हो जब स्वभाव का आश्रय हो, परन्तु चेतना की वर्तमान पर्याय तो अज्ञानी का भी विकसित अंश है। अन्तर दृष्टि डालते ही चेतना स्वभाव, अनन्त अपरिमित स्वभाव दिखता है यही सम्यग्दर्शन, कर्मास्रव का निरोधक है।

स्व- पर का श्रद्धान होने पर अपने को पर से भिन्न जाने तो स्वयं के आश्रय से संवर-निर्जरा रूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य का उदय होता है तथा पर द्रव्यों को अपने से भिन्न रूप श्रद्धान होने पर, पर के लक्ष्य से होने वाले पुण्य- पाप व आस्रव बंध को छोड़ने का श्रद्धान होता है। स्वयं को पर से भिन्न जानने पर निज हितार्थ प्रवर्तन होता है तथा पर को अपने से भिन्न जानने पर उनके प्रति उदासीनता होती है और रागादिक छोड़ने का श्रद्धान ज्ञान होता है। इस प्रकार सामान्य रूप से जीव-अजीव दोनों का स्वरूप जानकर स्व की अनुभूति से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

अखण्ड द्रव्य ध्रुव स्वभाव और पर्याय दोनों का ज्ञान रहते हुए भी अखण्ड ध्रुव स्वभाव की ओर लक्ष्य रखना, उपयोग का प्रवाह अखण्ड द्रव्य की

ओर ले जाना अन्तर में समभाव को प्रगट करता है। स्वाश्रय द्वारा बंध का अभाव करते हुए जो निर्मल पर्याय प्रगट हो उसे धर्म या मोक्षमार्ग कहते हैं।

अनादि-अनंत निज शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, ऐसा स्व-सम्मुख आराधन करना ही कर्मास्रव के निरोध का सच्चा उपाय है।

प्रश्न-इतना सब जानते हुए भी कर्मास्रव क्यों होता है ?

समाधान- इसके समाधान में प्रथम अध्याय में ३६ त्रिभंग द्वारा कर्मास्रव के कारण बताये हैं जिनमें जुड़ने पर, उन भावों में बहने पर कर्मास्रव होता है।

प्रथम अध्याय

त्रिभंगी प्रवेस भाव

१. शुभ, असुभ, मिश्र : तीन भाव

गाथा-८

सुहस्य भावनं क्रित्वा, असुहं भाव तिस्टते ।

मिश्र भावं च मिथ्यात्वं, त्रिभंगी दल संजुतं ॥

अन्वयार्थ- (सुहस्य भावनं क्रित्वा) शुभ की भावना करने से शुभ भाव पुण्य बन्ध होता है (असुहं भाव तिस्टते) अशुभ भाव में ठहरने से अशुभ भाव पाप बन्ध होता है (मिश्र भावं च मिथ्यात्वं) मिथ्यात्व व सम्यक्त्व से मिला हुआ मिश्र भाव होता है (त्रिभंगी दल संजुतं) ऐसे तीन प्रकार के भाव कर्मास्रव के कारण हैं।

विशेषार्थ- शुभ-अशुभ और मिश्र यह तीन भाव कर्मास्रव के कारण हैं। इन भावों द्वारा आत्मप्रदेशों का सकम्प होना ही आस्रव है। योग (आत्मप्रदेशों के परिस्यंदन) में शुभ या अशुभ ऐसा भेद नहीं है; किन्तु आचरण रूप उपयोग में (चारित्र्य गुण की पर्याय में) शुभोपयोग और अशुभोपयोग ऐसा भेद होता है।

सम्यक्त्व पूर्वक जो मंद कषाय रूप भाव होते हैं उनको शुभ भाव कहते हैं, वे शुद्धात्मा की भावना सहित हैं, शुद्ध स्वरूप में रुचि रूप हैं, वे भाव यद्यपि पुण्य बंध के कारक हैं तथापि मोक्षमार्ग में साधक न होकर बाधक हैं।

मिथ्यादृष्टि के भी मन्दकषाय रूप शुभ भाव होते हैं वे इन शुभ भावों से इतना पुण्य बांधते हैं कि द्रव्यलिङ्गी मुनि नव ग्रैवेयक तक जाकर अहमिन्द्र हो जाते हैं तथापि वह पुनः साधारण मनुष्य होकर भव भ्रमणकारी भावों में फँस जाते हैं इसलिए वह वास्तव में अशुभ भाव ही हैं।

मिथ्यादृष्टि पापानुबंधी पुण्यकर्म बांधता है जो परम्परा से पाप का कारण है। सराग सम्यग्दृष्टि पुण्यानुबंधी पुण्य कर्म बांधता है जो कि परम्परा से पुण्य बंधी होने के कारण मोक्ष में सहकारी है।

मिथ्यात्व कर्म के उदय सहित जितने भाव हैं वे सब वास्तव में अशुभ हैं। सराग सम्यग्दृष्टि के भी निचली श्रेणी में कभी अशुभ लेश्या से पाप कर्म का बंध होता है, अशुभोपयोग हो जाता है। तीव्र कषाय की अपेक्षा अशुभ है परन्तु सम्यक्त्व सहित होने से शुभ हैं।

तीसरा मिश्र भाव, मिश्र गुणस्थान में होता है जहाँ सम्यक्त्व मिथ्यात्व मिश्र मोहनीय कर्म का उदय होता है, जो अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं ठहरता है; फिर वह जीव इन भावों से या तो मिथ्यात्व में आता है या फिर सम्यक्त्व में चला जाता है। मिथ्यात्व व सासादन गुणस्थान के सर्व भाव मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी कषाय के उदय सहित होने से अशुभभाव हैं।

तीसरे मिश्र गुणस्थान के भाव मिश्र हैं, चौथे अविरत गुणस्थान से लेकर दसवें सूक्ष्म लोभ गुणस्थान तक शुभ भावों का सद्भाव है जिनसे कर्मों का आस्रव, बंध होता है। इस प्रकार शुभभाव, अशुभभाव, मिश्रभाव इन तीनों से कर्मास्रव होता है। कर्मों के आस्रव व बंध में योग व मोह कारण हैं।

शुद्धभाव से कर्मास्रव नहीं होता है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रत्नत्रय धर्म, आस्रव व बन्ध के कारण नहीं हैं। यह भाव तो संवर निर्जरा के ही कारण हैं; अतएव रत्नत्रय धर्म की भावना करके राग-द्वेष, मोह का त्याग करना चाहिए।

प्रश्न - यह शुभ-अशुभ मिश्रभाव से कर्मास्रव, सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से है या मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से है ?

समाधान- कर्म सिद्धान्त में सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा नहीं होती। जहाँ योग और कषाय रूप प्रवर्तन होगा वहाँ कर्मास्रव और बन्ध होगा। मिथ्यादृष्टि को तो निरन्तर ही कर्मबन्ध होता है। सम्यग्दृष्टि को भी चौथे गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक भूमिका पात्रतानुसार कर्मास्रव बन्ध होता है अतः उसे भी सावधान रहना चाहिए।

सार रूप से जब तक कर्मों का आस्रव-बन्ध होगा तब तक जीव को संसार में जन्म-मरण करना पड़ेगा, वह सम्यग्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि हो। इसलिए भव्य जीवों को इस तथ्य को जान समझकर शुभ-अशुभ-मिश्र भावों से बचकर अपने शुद्ध स्वभाव की साधना करना चाहिए।

२. मन, वचन, काय : तीन भाव

गाथा-९

मनस्य चिंतनं क्रित्वा, वचनं विपरीत उच्यते ।

कर्मनं क्रित मिथ्यात्वं, त्रिभंगी दल स्मृतं ॥

अन्वयार्थ- (मनस्य चिंतनं क्रित्वा) मन से विपरीत चिंतन करना (वचनं विपरीत उच्यते) वाणी से विपरीत वचन बोलना (कर्मनं क्रित मिथ्यात्वं) मिथ्यात्व सम्बन्धी आचरण काय से करना (त्रिभंगी दल स्मृतं) यह तीन मन, वचन, काय का त्रिभंगी दल कर्मास्रव का कारण है।

विशेषार्थ- कर्म वर्गणाओं के आस्रव का मूल कारण योग है। योग के दो भेद हैं - भावयोग और द्रव्ययोग। आत्मा की एक स्वाभाविक शक्ति परिस्पंदन रूप योग जो कर्म एवं नोकर्म पुद्गल वर्गणाओं को आकर्षित करती है, उसको भावयोग कहते हैं। यह भावयोग वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम एवं शरीर नामकर्म के उदय से काम करता है। आत्मा के प्रदेशों का परिस्पंदन या हिलना, द्रव्य योग है। मन, वचन, काय का हलन-चलन, आत्मा के प्रदेश परिस्पंदन का निमित्त कारण है। जिस समय मन, वचन, काय के द्वारा कुछ कार्य होता है उसी समय आत्मा के प्रदेश सकम्प होते हैं तथा उसी समय पुद्गल कर्म वर्गणाएँ आस्रवित होती हैं जिससे कर्म बन्ध हो जाता है। यदि कषाय भाव होता है तो सांपरायिक आस्रव होता है तथा स्थिति अनुभाग बन्ध हो जाता है।

कषाय सहित योग को ही लेश्या कहते हैं। मन, वचन, काय तीनों से एक साथ कार्य नहीं होते। एक समय में एक योग कार्य करता है। योगों का पलटना भी शीघ्र हो जाता है। इन तीनों योगों के १५ भेद हैं : चार मनोयोग, चार वचन योग, सात काय योग।

सत्य, असत्य, उभय, अनुभय-चार मनोयोग हैं।

सत्य, असत्य, उभय, अनुभय-चार वचनयोग हैं।

औदारिक काय, औदारिक मिश्र काय, वैक्रियक काय, वैक्रियक मिश्र काय, आहारक काय, आहारक मिश्र काय और कार्माण काय-यह सात काय योग हैं।

यद्यपि भाव योग एक ही प्रकार का है तथापि निमित्त की अपेक्षा से उसके १५ भेद होते हैं। जब योग मन की ओर झुकता है तब उसमें मन निमित्त होने से योग और मन का निमित्त-नैमित्तिक संबंध दर्शाने के लिए उस योग को मनोयोग कहा जाता है।

इसी प्रकार जब वचन की ओर झुकाव होता है तब वचन योग कहा जाता है और जब काय की ओर झुकाव हो तब काय योग कहा जाता है।

सत्य को मन से विचारना व सत्य ही कहना, सत्य मन व वचन हैं।

असत्य ही विचारना व असत्य ही कहना, असत्य मन व वचन हैं।

सत्य व असत्य मिश्रित को विचारना व कहना, उभय मन व वचन हैं।

जिस बात को सत्य या असत्य कुछ भी नहीं कहा जा सकता, वह अनुभय मन व वचन हैं। जैसे-“ उसने क्या कहा था ? ”

मनुष्य और तिर्यच को पर्याप्त दशा में औदारिक व अपर्याप्त दशा में औदारिक काय योग होता है। कार्माण व औदारिक के मिश्र को औदारिक मिश्र कहते हैं। देव और नारकी को पर्याप्त दशा में वैक्रियक व अपर्याप्त दशा में वैक्रियक मिश्र काय योग होता है। आहारक समुद्घात के समय छठवें गुणस्थानवर्ती मुनि के आहारक शरीर जब बनता है तब पर्याप्त दशा में आहारक काययोग व अपर्याप्त दशा में आहारक मिश्र काय योग होता है। औदारिक के साथ आहारक मिश्र होता है। विग्रहगति में एवं केवली समुद्घात में प्रतरद्वय व लोक पूर्ण में कार्माण योग होता है, जब तक यह जीव चौदहवें गुणस्थान में न पहुँचे अर्थात् सिद्ध गति के निकट न पहुँचे तब तक हर एक जाग्रत व सुप्त दशा में कोई न कोई योग होता है जिससे कर्म या नोकर्म का आस्रव हुआ करता है। विग्रह गति में केवल कार्माण व तैजस वर्णाओं का ही ग्रहण होता है।

एकेन्द्रिय को केवल काय योग होता है। दो इन्द्रिय से असैनी पंचेन्द्रिय तक काय और वचन योग होता है। सैनी पंचेन्द्रियों के काय, वचन, मन तीनों योग होते हैं। जन्म लेने पर एक अन्तर्मुहूर्त तक जीव अपर्याप्त रहता है, शरीर पर्याप्त पूर्ण करने पर पर्याप्त हो जाता है।

हमें यह निश्चय करना चाहिए कि मन, वचन, काय का हलन- चलन कर्मों के आस्रव व बन्ध का मूल कारण है। मंद कषाय सहित मन, वचन, काय का परिणमन, शुभ योग कहलाता है तथा तीव्र कषाय सहित मन, वचन, काय का परिणमन अशुभ योग कहलाता है।

मिथ्यात्व सहित मन, वचन, काय की सभी शुभ-अशुभ क्रियाएँ विपरीत हैं, संसारवर्द्धक हैं। सम्यक्त्व सहित मन, वचन, काय की क्रिया यदि अशुभ हों तो पाप और

शुभ हों तो पुण्य बंध कारक हैं तथापि अनन्तानुबंधी कषाय के अभाव में संसारवर्द्धक नहीं हैं। प्रयोजन यह है कि मिथ्यात्व को उगलकर फेंक देना चाहिए। सम्यक्त्वपूर्वक भी मन, वचन, काय का प्रवर्तन जहाँ तक होगा वहाँ तक कर्मास्रव होगा; अतएव इनका निरोध करके तीन गुप्ति पालकर अपने शुद्धात्मा की गुफा में बैठकर स्वानुभव करना योग्य है। वीतरागता जितनी अधिक होगी आस्रव उतना कम होगा।

जो मन, वचन, काय को रोककर आत्मज्ञान देने वाले शुद्ध निश्चयनय का आलम्बन लेकर स्वस्वरूप में एकाग्र हो जाते हैं, वे निरंतर रागादि भावों से रहित होते हुए बन्ध रहित शुद्ध समयसार (शुद्धात्मा) का अनुभव करते हैं।

प्रश्न -जब आत्मा निरंजन, निर्विकार, शुद्ध ममल स्वभावी है तो इन भावों और कर्मों से क्या सम्बन्ध है ?

समाधान - अनादि से मोह युक्त होने से उपयोग (जीव) के अनादि से लेकर तीन परिणाम हैं, वे मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति भाव हैं, ऐसा जानना चाहिए। अनादि से यह तीन प्रकार के परिणाम विकार होने से, आत्मा का उपयोग यद्यपि शुद्धनय से शुद्ध निरंजन एकभाव है तथापि तीन प्रकार का होता हुआ वह उपयोग जिस विकारी भाव को स्वयं करता है उस भाव का वह कर्ता होता है। उसके कर्ता होने पर पुद्गल द्रव्य अपने आप कर्म रूप परिणमित होता है।

जो पर को अपने रूप करता है और अपने को पर रूप करता है वह अज्ञान मय जीव कर्मों का कर्ता होता है।

जब आत्मा राग-द्वेष, सुख-दुःखादि अवस्था को ज्ञान से भिन्न जानता है अर्थात् शीत ऊष्णता पुद्गल की अवस्था है उसी प्रकार राग-द्वेषादि भी पुद्गल की अवस्था है, तब वह अपने को ज्ञाता और रागादि रूप को पुद्गल जानता है। ऐसा होने पर रागादि का कर्ता आत्मा नहीं होता, वह तो ज्ञाता ही रहता है।

३. क्लित, कारित, अनुमति : तीन भाव

गाथा-१०

**क्लितं असुद्ध कर्मस्य, कारितं तस्य उच्यते ।
अनुमति तस्य उत्पाद्यंते, त्रिभंगी दल उच्यते ॥**

अन्वयार्थ-(क्रिंतं असुद्ध कर्मस्य) अशुद्ध अर्थात् शुभाशुभ कर्म को करना (कारितं तस्य उच्यते) अशुद्ध कार्य को दूसरे से कराना कारित है (अनुमति तस्य उत्पाद्यंते) अशुद्ध कार्य में सम्मति देना या सराहना करना अनुमोदना है (त्रिभंगी दल उच्यते) इसको आस्रव का त्रिभंगी समूह कहा जाता है।

विशेषार्थ-शुद्धोपयोग में रमण करना ही आत्मा का स्वहित है, संवर का कारण है। इसके विपरीत अशुद्धोपयोग है, चाहे शुभ हो या अशुभ हो इसी से कर्मास्रव बन्ध होता है।

क्रोध, मान, माया, लोभ के वशीभूत होकर यह जीव बहुत सारे कार्यों को स्वयं करता है, दूसरों से करवाता है तथा दूसरों के द्वारा किए गए कार्यों की प्रशंसा करते हुए सम्मति देता है। तीनों प्रकार से कर्मों का आश्रव होता है। यह नहीं समझना चाहिए कि कोई कार्य स्वयं करने से अधिक बन्ध होगा और करवाने व अनुमोदना करने से कम बन्ध होगा, ऐसा कोई नियम नहीं है।

कृत, कारित, अनुमोदना में जहाँ कषाय भाव अधिक होगा वहाँ अधिक आस्रव तथा कषाय भाव कम होने पर कम आस्रव होगा अतः कषाय की तीव्रता, मंदता पर कर्मास्रव की तीव्रता मंदता निर्भर है।

एक राजा स्वयं राजमहल में बैठकर युद्ध की आज्ञा देता है। राजा स्वयं युद्ध नहीं करता किन्तु उसकी आज्ञा से ही युद्ध हो रहा है इसलिए वह युद्ध करने वालों से अधिक पाप का बन्ध करेगा। दूसरी तरफ युद्ध करने वाले यदि यह भाव रखें कि हमारी स्वयं की इच्छा इस युद्ध को करने की नहीं थी किन्तु राजाज्ञा का पालन करना पड़ रहा है, तो करने वाले योद्धाओं को राजा की अपेक्षा कम बन्ध होगा। तीसरी तरफ एक साधारण मनुष्य इस युद्ध की बात सुनकर बड़ा ही रंजायमान होता है तो युद्ध कराने वाले राजा व युद्ध करने वाले सैनिकों से ज्यादा कषाय की तीव्रता होने के कारण वह अधिक पाप का बन्ध करेगा।

हिंसा करने वाला, कराने वाला और सम्मति देने वाला तीनों हिंसक हैं। यदि तीनों की कषाय समान होगी तो समान बन्ध व कम या अधिक होगी तो कम या अधिक बन्ध होगा; इसलिए अशुभ कार्यों को न तो करना चाहिए, न करवाना चाहिए और न ही उनकी सराहना करना चाहिए।

इसी प्रकार शुभ कार्यों को न तो करना चाहिए, न करवाना चाहिए और न ही उनकी अनुमोदना करना चाहिए तब ही कर्मास्रव से बचा जा सकता है।

जहाँ कृत, कारित व अनुमति का कोई विकल्प नहीं है केवल निर्विकल्प स्वानुभव है वहाँ आस्रव का अभाव है, अथवा गुणस्थान अपेक्षा अल्पबन्ध है।

“मैं कृत, कारित, अनुमोदना से मन-वचन-काय केद्वारा सम्पादित भूत भविष्य-वर्तमान सम्बन्धी सर्व कर्मों को त्याग कर अर्थात् सबसे नाता तोड़कर कर्म करने के विकल्प से रहित परम शुद्ध चैतन्य स्वभाव का आलम्बन लेता हूँ” यही ज्ञानी का कर्त्तव्य है।

प्रश्न -शुभ-अशुभ दोनों कर्मों का कृत-कारित-अनुमति से त्याग का अभिप्राय क्या है ? अशुभ तो हेय है परंतु शुभ तो करना चाहिए ?

समाधान - हिंसादि अशुभ कर्म पापास्रव हैं, अहिंसादि शुभ कर्म पुण्यास्रव हैं किन्तु दोनों ही आस्रव होने से बन्ध के कारण हैं, अतः उनमें उपादेयत्व मानना ही मिथ्यादर्शन है।

यह अज्ञानमय अध्यावसान ही बन्ध का कारण है कि मैं किसी को जिलाता हूँ, सुखी करता हूँ ऐसे शुभ अहंकार से भरा हुआ वह शुभ अध्यवसाय है और मैं मारता हूँ, दुःखी करता हूँ ऐसे अशुभ अहंकार से भरा हुआ वह अशुभ अध्यवसाय है।

अहंकार रूप मिथ्याभाव दोनों में है अतः यह नहीं मानना चाहिए कि पुण्य का कारण दूसरा है और पाप का कारण कोई अन्य है। अज्ञान मय अध्यावसान ही दोनों का कारण है इसलिए दोनों हेय हैं।

अध्यावसान के निषेध के लिए बाह्य वस्तु क्रिया आदि का निषेध किया जाता है। अध्यावसान को बाह्य वस्तु आश्रयभूत है क्योंकि बाह्यवस्तु का आश्रय किये बिना अध्यावसान उत्पन्न नहीं होता। अध्यावसान ही कर्मबन्ध का कारण है, अज्ञान दशा में जीव पर पदार्थों का आश्रय करके निरन्तर कर्मों का आस्रव बन्ध करता रहता है। स्वाश्रय ही कर्मबन्ध से छूटने का उपाय है।

४. कुमति, कुश्रुति, कुअवधि : तीन भाव

गाथा-११-१२

कुन्यानं त्रिविधिं प्रोक्तं, जिह्वा अग्रेन तिष्ठते ।

छाया त्रि उवंकारं, मिथ्या दिष्टि तत्परा ॥

कुमतिं क्तिवा मिथ्यात्वं, कुश्रुतं तस्य पस्यते ।

कुअवधि तस्य दिष्टंते, मिथ्या माया विमोहितं ॥

अन्वयार्थ-(कुन्यानं त्रिविधिं प्रोक्तं) कुज्ञान तीन प्रकार का कहा गया है (जिह्वा अग्रेन

तिष्ठते) जो जिह्वा के अग्रभाग पर ठहरा रहता है अर्थात् मात्र चर्चा रूप ऊपरी ज्ञान होता है उसमें अपने स्वरूप की भावभासना या वस्तु स्वरूप का ज्ञान नहीं होता है। (छाया त्रि उवकारं) ज्ञान आत्मा का गुण है, यह तीनों कुज्ञान उसके छाया रूप आवरण हैं (मिथ्या दिष्टि तत्परा) जो मिथ्यादृष्टि में ही समायें रहते हैं।

(कुमतिं क्रित्वा मिथ्यात्वं) पहला कुज्ञान मिथ्यात्व सहित कुमति ज्ञान है (कुश्रुतं तस्य पश्यते) वहाँ कुश्रुत ज्ञान भी देखा जाता है अर्थात् कुमति के साथ कुश्रुत ज्ञान होता है (कुअवधि तस्य दिष्टंते) मिथ्यादृष्टि के ही कुअवधिज्ञान देखा जाता है (मिथ्या माया विमोहितं) यह तीनों ज्ञान मिथ्यात्व भाव और मायाचार से मोहित हैं।

विशेषार्थ-पाँच इन्द्रिय और मन के द्वारा अपनी शक्तिके अनुसार जो ज्ञान होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं।

मतिज्ञान के द्वारा जाने हुए पदार्थों को विशेष रूप से जानना वह श्रुतज्ञान है।

जो द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव की मर्यादा सहित इन्द्रिय या मन के निमित्त बिना रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

ज्ञान, आत्मा का विशेष गुण है किन्तु मिथ्यात्व सहित होने से यह कुमति, कुश्रुत और कुअवधि ज्ञान कहा जाता है। मिथ्यादृष्टि का मूल अभिप्राय संसार वासना है उसके अनुभव में आत्मानन्द रस का स्वाद नहीं है, वह संसार में लिप्त है अतएव मतिज्ञान से पदार्थों को जानकर इष्ट पदार्थों में राग व अनिष्ट पदार्थों में द्वेष करता है। स्त्री पुत्रादि धन-धान्य में तन्मय रहता है, इष्ट पदार्थों के लाभ के लिए न्याय-अन्याय को नहीं गिनता है, पर पदार्थों में अहंकार ममकार रखता है, जबकि सम्यग्दृष्टि की अहंबुद्धि अपने शुद्ध आत्मा के स्वरूप में ही होती है वह किसी भी पर पदार्थ को अपना नहीं मानता है, भीतर से सच्चा वैरागी होता है।

आत्मानुभव की शक्ति मिथ्यादृष्टि को नहीं होती इसलिए उसका सभी मति श्रुत ज्ञान कुमति तथा कुश्रुत ज्ञान कहा जाता है। यह ज्ञान मात्र जिह्वा के अग्रभाग पर ठहरता है अर्थात् मात्र चर्चा करता है। उसे अपने आत्मस्वरूप और वस्तुस्वरूप का ज्ञान नहीं होता है।

अवधिज्ञान नारकियों और देवों को जन्म से होता है। तिर्यच या मनुष्यों को, किसी-किसी को तपादि के द्वारा हो जाता है। अवधिज्ञान से अपने व दूसरों के पिछले व अगले जन्म की बातों का ज्ञान हो सकता है। मिथ्यादृष्टि का कुअवधि ज्ञान कहलाता है। वहीं

सम्यग्दृष्टि का सुअवधि ज्ञान कहलाता है। कारण यही है कि मिथ्यादृष्टि के ज्ञान का फल विपरीत होता है। इन तीनों कुज्ञानों के होते हुए मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी कषायों के उदय के कारण इस जीव को कर्मों का आस्रव विशेष होता है।

ज्ञान तो आत्मा के गुण का विकास है इसलिए वह बन्ध का कारण नहीं है; किन्तु ज्ञान के साथ मिथ्यात्व मोह का मिश्रण उसी तरह है जैसे निर्मल जल के साथ विष मिला दिया जाए।

मति और श्रुतज्ञान में संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय, यह तीन दोष हैं। अवधिज्ञान में संशय नहीं होता किन्तु अनध्यवसाय अथवा विपर्यय दोनों दोष होते हैं, इसलिए इनको कुमति, कुअवधि ज्ञान कहते हैं।

मिथ्यादृष्टि जीव सत्-असत् के बीच का भेद (विवेक) नहीं जानता; इससे सिद्ध हुआ कि प्रत्येक जीव को पहले सत् क्या है ? असत् क्या है ? इसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके मिथ्याज्ञान को दूर करना चाहिए।

विपर्यय-विपरीतता तीन प्रकार की होती है- १. कारण विपरीतता,

२. स्वरूप विपरीतता,

३. भेदाभेद विपरीतता

१. कारण विपरीतता - मूल कारण को न पहिचानकर अन्यथा कारण को मानना।

२. स्वरूप विपरीतता-मूल वस्तुभूत स्वरूप को न पहिचानकर अन्यथा स्वरूप को मानना।

३. भेदाभेद विपरीतता-जिसे जानता है, उसे यह इससे भिन्न है और इससे अभिन्न है, ऐसी यथार्थ पहिचान न करके अन्यथा भिन्नत्व-अभिन्नत्व को मानना ही भेदाभेद विपरीतता है।

इन विपरीतताओं को दूर करने का उपाय -

१. एक द्रव्य उसके गुण या पर्याय; दूसरे द्रव्य, उसके गुण या पर्याय में कुछ भी नहीं कर सकते। प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने कारण से अपनी पर्याय धारण करता है। विकारी अवस्था के समय पर द्रव्य निमित्त रूप अर्थात् उपस्थित तो होता है किन्तु वह किसी अन्य द्रव्य में कुछ भी नहीं कर सकता।

प्रत्येक द्रव्य में अगुरुलघुत्व नामक गुण है इसलिए वह द्रव्य अन्य रूप नहीं होता, एक गुण दूसरे रूप नहीं होता और एक पर्याय दूसरे रूप नहीं होती। एक द्रव्य के

गुण या पर्याय उस द्रव्य से पृथक् नहीं हो सकते। इस प्रकार जो अपने क्षेत्र में अलग नहीं हो सकते और पर द्रव्य में नहीं जा सकते तो वे उसका क्या कर सकते हैं ? कुछ भी नहीं। एक द्रव्य, गुण या पर्याय दूसरे द्रव्य की पर्याय में कारण नहीं होते इसी प्रकार वे दूसरे का कार्य भी नहीं करते। ऐसी अकारण कार्यत्व शक्ति प्रत्येक द्रव्य में विद्यमान है ऐसी समझ होने पर कारण विपरीतता दूर हो जाती है।

२. प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है, जीवद्रव्य चेतना गुण स्वरूप है। पुद्गल द्रव्य स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण स्वरूप है। मैं पर का कुछ कर सकता हूँ और पर मेरा कुछ कर सकता है, तथा शुभ विकल्प से लाभ होता है। जब तक जीव ऐसी विपरीत मान्यता में रहता है तब तक उसकी अज्ञान रूप पर्याय बनी रहती है। जब जीव यथार्थ को समझता है या सत् को समझता है तब यथार्थ मान्यतापूर्वक उसे सच्चा ज्ञान होता है। उसके परिणाम स्वरूप क्रमशः शुद्धता बढ़कर सम्पूर्ण वीतरागता प्रगट होती है। अन्य चार द्रव्य- धर्म, अधर्म, आकाश और काल अरूपी हैं, उनकी कभी अशुद्ध पर्याय नहीं होती। इस प्रकार समझ लेने पर स्वरूप विपरीतता दूर हो जाती है।

३. पर द्रव्य, जड़कर्म और शरीर से जीव त्रिकाल भिन्न है। जब वे एक क्षेत्रावगाह संबंध से रहते हैं तब भी जीव के साथ एक नहीं हो सकते। एक द्रव्य के-द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव दूसरे द्रव्य में नास्ति रूप हैं क्योंकि दूसरे द्रव्य से वह द्रव्य चारों प्रकारों से भिन्न है प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपने गुण से अभिन्न है क्योंकि उससे वह द्रव्य कभी पृथक् नहीं हो सकता। इस प्रकार समझ लेने पर भेदाभेद विपरीतता दूर हो जाती है।

अज्ञानी जीव इस असत् क्षणिक भाव को अपना मान रहा है अर्थात् वह असत् को सत् मान रहा है। इस भेद को जान कर जो असत् को गौण करके सत् स्वरूप पर दृष्टि देकर अपने ज्ञायक स्वभाव की ओर उन्मुख होता है वह मिथ्याज्ञान को दूर करके सम्यग्ज्ञान प्रगट करता है। सम्यग्ज्ञान प्रगट होने पर ही कुज्ञान का अभाव होता है तभी कर्मास्रव से बचा जा सकता है।

५. आर्त, रौद्र, मिश्र : तीन भाव

गाथा-१३

आर्त ध्यान रतो भावं, रौद्र ध्यान समं जुतं ।

मिस्रस्य राग मयं मिथ्या, त्रिभंगी नरयं पतं ॥

अन्वयार्थ- (आर्त ध्यान रतो भावं) आर्तध्यान में लीन भाव (रौद्र ध्यान समं जुतं) रौद्र ध्यान सहित भाव में जुड़े रहना (मिस्रस्य राग मयं मिथ्या) आर्तध्यान एवं रौद्र ध्यान दोनों का मिश्रित भाव है (त्रिभंगी नरयं पतं) यह तीनों भाव नरक में गिराने वाले हैं।

विशेषार्थ- आर्त, रौद्र, मिश्र यह तीन भाव भी कर्मास्रव के कारण हैं। मिथ्यात्व सहित तो यह नरक ले जाने वाले होते हैं। सम्यक्दर्शन सहित छठवें गुणस्थान तक आर्त ध्यान और पाँचवें गुणस्थान तक रौद्र ध्यान होता है, वहाँ तक कर्मास्रव और बन्ध है जो संसार का ही कारण है।

प्रथम आर्तध्यान - जहाँ दुःखित, आकुलित, क्षोभित, शोकार्त परिणाम हों उसको आर्तध्यान कहते हैं। बहुत समय तक एक विषय की चिन्ता, चिन्तन करना, उसमें एकाग्र होना ही ध्यान है। यह आर्तध्यान चार कारणों से होता है अतः इसके चार भेद हैं :

१. **इष्ट वियोगज-**मन को प्रिय स्त्री, पुत्र, मित्र, भोजन वस्त्र आदि का वियोग हो जाने पर उनके संयोग की कामना करके चिन्ता करते हुए दुःखित होना।

२. **अनिष्ट संयोगज-**मन को अप्रिय स्थान, वस्त्र, भोजन, स्त्री, पुत्र, नौकर, आभूषण, शत्रु आदि का संयोग होने पर उससे छुटकारा पाने की चिन्ता में दुःखित होना।

३. **पीड़ा चिन्तवन-**वेदना जनित रोगों के होने पर पीड़ा के कारण चिन्तातुर होना।

४. **निदानज-**आगामी भोगों के मिलने की आशा तृष्णा से आकुल भाव रखना।

यह चारों आर्तध्यान मिथ्यादृष्टि के भीतर बहुत तीव्र होते हैं। उससे मिथ्यात्वी जीव कभी नरक आयु बांध कर नारकी हो जाता है। यदि कषाय की तीव्रता कम होती है तो तिर्यच आयु बांधकर तिर्यच हो जाता है। इष्ट वियोग आर्तध्यान के कारण दूसरे स्वर्ग के देव एकेन्द्रिय तिर्यच व बारहवें स्वर्ग तक के देव पंचेन्द्रिय तिर्यच हो जाते हैं।

ज्ञानी को वस्तु स्वरूप विचार कर कर्मों के उदय को समझकर सन्तोष रखना चाहिए। चौथे-पाँचवें गुणस्थान में संयोग के कारण तो यह होते ही हैं, छठवें गुणस्थान में साधु को भी निदान के सिवाय तीन आर्तध्यान का सद्भाव रहता है।

दूसरा रौद्र ध्यान-रूद्र, क्रूर, दुष्ट आशय से जहाँ चिन्ता किसी एक दुष्ट अभिप्राय में प्रवर्तित उसको रौद्र ध्यान कहते हैं। यह ध्यान चार कारणों की अपेक्षा से होता है इसलिए इसके भी चार भेद हैं-हिसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी, परिग्रहानन्दी।

१. **हिसानन्दी-**हिंसा करने कराने में व सम्मति देने में आनन्दित होना। मिथ्यादृष्टि जीव

स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है इसलिए कृष्णादि तीन लेश्या से पर की हानि करने का दुष्ट विचार करता रहता है।

२. मृषानन्दी-असत्य बोलकर, बुलवाकर व सम्मति देकर प्रसन्न होना, मिथ्यादृष्टि मन, वचन, काय की कुटिलता पूर्वक अपने स्वार्थ को साध्य बना करके झूठ का जाल बिछाकर पर प्राणियों को फाँस लेता है और अपनी इस चतुराई से बड़ा प्रसन्न होता है।

३. चौर्यान्दी-चोरी करके, चोरी करवाकर व सम्मति देकर आनन्द मानता है। मिथ्यादृष्टि धन का लोलुपी विश्वासघात करता है। जिस तरह बने पर की सम्पत्ति को हर लेने में संतोष मानता है।

४. परिग्रहानन्दी-परिग्रह बढ़ाने में, बढ़वाने में, तथा बढ़ते हुए परिग्रह को देखकर आनन्द मानता है। मिथ्यादृष्टि धनादि परिग्रह का तीव्र मूर्च्छावान होता है; अतएव परिग्रह संग्रह में एवं परिग्रह की रक्षा में इतना मग्न रहता है कि धर्म, परोपकार, दानादि कर्म को भूलकर केवल परिग्रह की वृद्धि में ही उन्मत्त रहता है।

इस प्रकार चार रौद्र ध्यान को करने वाला मिथ्यादृष्टि तीव्र अशुभ भावों से नरक आयु बांधकर नरक गति चला जाता है। मिथ्यात्व का अभाव होने पर भी चौथे गुणस्थान में तथा पाँचवें गुणस्थान में रौद्र ध्यान कभी-कभी हो जाता है इसलिए हमेशा सावधान रहना चाहिए।

तीसरा मिश्रध्यान-आर्त-रौद्र का मिला हुआ रूप तीसरा मिश्र ध्यान होता है। उदाहरणतः कोई किसी की हिंसा करना चाहता था, हिंसा का प्रयत्न करने पर भी वह सामने वाला बच जाए और अपनी हिंसा हो जाए तब हिंसानंदी रौद्रध्यान के साथ अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान हो जाता है। इसी तरह झूठ बोलकर कार्य सम्पन्न करना चाहता था व चोरी करके धन लेना चाहता था अथवा परिग्रह वृद्धि करना चाहता था परन्तु असफल होने पर शोक करता है, यह रौद्रध्यान मिश्रित आर्तध्यान है। परिग्रह बढ़ाने की तीव्र अभिलाषा से ही दोनों ध्यान मिश्रित होते हैं।

इस तरह यह आर्त-रौद्र-मिश्र भाव तीनों ही संसार भ्रमण करवाने वाले तीव्र आस्रव के कारण भाव हैं, हिंसा के मूल कारण हैं। पर को तथा अपने को दुःखकारी हैं, इससे तीव्र असाता वेदनीय कर्म का बन्ध होता है।

चारों कषायों को जीतने से आर्त रौद्र ध्यान नहीं होते हैं। जो तत्त्वज्ञानी होकर चरणानुयोग का अभ्यास करता है उसको समस्त आचरण अपने वीतराग भाव अनुसार भाषित होते हैं।

६. मिथ्यात्व, समय मिथ्यात्व, समय प्रकृति मिथ्या : तीन भाव गाथा-१४

मिथ्या समयं च संपूर्णं, समय मिथ्या प्रकासए।

अत्रितं त्रितं जानंति, प्रकृति मिथ्या निगोदयं ॥

अन्वयार्थ-(मिथ्या समयं च संपूर्णं) मिथ्यात्व से आत्मा का परिपूर्ण होना (समय मिथ्या प्रकासए) समय के मिथ्यात्व का सद्भाव होना (अत्रितं त्रितं जानंति) क्षणभंगुर को शाश्वत जानना (प्रकृति मिथ्या निगोदयं) यह प्रकृति मिथ्यात्व है, यह तीनों भाव निगोद के कारण हैं।

विशेषार्थ- मिथ्यात्व- विपरीत मान्यता, शरीरादि में आत्मबुद्धि करना, जीव अनादि काल से अनेक शरीर धारण करता है, पूर्व का छोड़कर नवीन शरीर धारण करता है। आत्मा, जीव और अनंत पुद्गल परमाणुमय शरीर, इन दोनों के पिण्ड बन्धन रूप यह अवस्था होती है, इन सबमें यह ऐसी अहं बुद्धि करता है कि - “यह मैं हूँ”। जीव तो ज्ञानस्वरूप चेतन लक्षण मयी है और पुद्गल परमाणुओं का स्वभाव वर्ण, रस, गंध, स्पर्शादि है जो अचेतन जड़ है। इन सबको अपना स्वरूप मानकर ऐसी बुद्धि करता है कि - “यह मेरे हैं”। हलन-चलन आदि क्रिया शरीर करता है, उसे जीव ऐसा मानता है कि - “मैं कर्ता हूँ”।

अनादि से इन्द्रिय ज्ञान है, बाह्य की ओर दृष्टि है इसलिए स्वयं अमूर्तिक तो अपने को पता नहीं होता और मूर्तिक शरीर ही पता होता है, इसी कारण जीव अन्य को अपना स्वरूप जानकर उसमें अहं बुद्धि धारण करता है। इसमें आत्मा और शरीर का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध क्या है? यह नहीं जानने से यथार्थ रूप से शरीर से स्व की भिन्नता मालूम नहीं होती, यही मिथ्यात्व भाव है। मिथ्यादर्शन की कुछ मान्यताएँ -

१. स्व पर एकत्व दर्शन, २. पर की कर्तृत्व बुद्धि, ३. पर्यायबुद्धि, ४. व्यवहार विमूढ़, ५. अतत्त्व श्रद्धान, ६. स्व स्वरूप की भ्रांति, ७. राग व शुभ भाव से आत्मलाभ हो ऐसी बुद्धि, ८. बहिर्दृष्टि, ९. विपरीत रुचि, १०. जैसा वस्तु स्वरूप हो वैसा न मानना और

जैसा न हो वैसा मानना, ११. पर से लाभ-हानि होती है ऐसी मान्यता, १२. विपरीत अभिप्राय, १३. ऐसी मान्यता कि जीव शरीर की क्रिया कर सकता है, १४. निमित्ताधीन दृष्टि, १५. शुभाशुभ भाव का स्वामित्व।

मिथ्यात्व के दो भेद हैं-अग्रहीत मिथ्यात्व और ग्रहीत मिथ्यात्व। अग्रहीत मिथ्यात्व अनादि कालीन है। ऐसी मान्यता रखना कि-“शरीर ही मैं हूँ तथा मैं पर द्रव्य का कुछ कर सकता हूँ या शुभ विकल्प से आत्मा को लाभ है, यह अनादि का मिथ्यात्व है।”

संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्यादि पर्याय में जन्म लेने के बाद पर उपदेश के निमित्त से जो अतत्त्व श्रद्धान करता है अर्थात् लोक मूढ़ता में फँसता है, वह ग्रहीत मिथ्यात्व है। ग्रहीत मिथ्यात्व के पाँच भेद हैं-एकांत मिथ्यात्व, विपरीत मिथ्यात्व, संशय मिथ्यात्व, विनय मिथ्यात्व, अज्ञान मिथ्यात्व।

सम्यक्मिथ्यात्व-जिस कर्म के उदय से जीव के न तो केवल सम्यक्त्व रूप परिणाम हों और न ही केवल मिथ्यात्व रूप परिणाम हों, दोनों मिले हुए हों, उसको सम्यक्मिथ्यात्व कहते हैं।

अन्य सर्वघाति प्रकृतियों से विलक्षण जात्यंतर सर्वघाती सम्यक्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से केवल सम्यक् रूप या मिथ्यात्व रूप परिणाम न होकर जो मिश्र रूप परिणाम होता है उसको तीसरा मिश्र गुणस्थान कहते हैं।

सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व-जिस कर्म के उदय से आत्मा के सम्यक्दर्शन में चल, मलिन, अगाढ़ दोष उत्पन्न हों। इस कर्म के उदय से सम्यग्दर्शन का घात नहीं होता। यह चल, मलिन, अगाढ़ दोष भी अत्यंत सूक्ष्म रूप दोष हैं। यह सातवें गुणस्थान तक होते हैं।

मिथ्यात्व महापाप है। इस मिथ्यात्व मय भाव से जीव निगोद चला जाता है; अतएव कर्मों के आस्रव से बचने के लिए इन तीनों मिथ्या भावों का त्याग कर यथार्थ तत्त्व का श्रद्धान करना चाहिए। संसार का मूल मिथ्यात्व है और मिथ्यात्व का अभाव किए बिना अन्य अनेक उपाय करने पर भी मोक्ष या मोक्षमार्ग नहीं होता; इसलिए सबसे पहले यथार्थ उपयोग के द्वारा सर्व प्रकार से उद्यम करके इस मिथ्यात्व का सर्वथा नाश करना ही योग्य है।

जो कोई आत्मा जड़कर्म की अवस्था और शरीरादि की अवस्था को कर्ता नहीं है, उसे अपना कर्तव्य नहीं मानता है, तन्मय बुद्धिपूर्वक परिणमन नहीं करता है किन्तु मात्र ज्ञाता है अर्थात् तटस्थ रहता हुआ, साक्षी रूप से ज्ञाता है; वह आत्मा ज्ञानी है।

७. मिथ्यादेव, मिथ्यागुरु, मिथ्या धर्म : तीन भाव गाथा-१५

**मिथ्यादेव गुरुं धर्मं, अत्रितं त्रित उच्यते ।
असत्यं असास्वतं प्रोक्तं, त्रिभंगी निगोयं दलं ॥**

अन्वयार्थ-(मिथ्यादेव गुरुं धर्मं) मिथ्यादेव को, मिथ्यागुरु को, मिथ्या धर्म को (अत्रितं त्रित उच्यते) जो असत्य हैं उनको सत्य कहता है (असत्यं असास्वतं प्रोक्तं) जिन्हें झूठे, क्षणभंगुर और नाशवान कहा गया है (त्रिभंगी निगोयं दलं) इन तीनों को मानने वाला निगोद का पात्र होता है।

विशेषार्थ- मिथ्यादेव, गुरु, धर्म वे हैं जिनमें देवपना, गुरूपना, धर्मपना होता ही नहीं है। जैसे -जल, वायु, अग्नि, समुद्र, पर्वत, नदी, वृक्ष, चित्रलेप, मिट्टी-पाषाण आदि धातुओं द्वारा निर्मित आडम्बर युक्त मूर्ति को देव मान लेना। ऐसे मिथ्यादेवों की पूजा करने की प्रेरणा देने वाले मिथ्यागुरु होते हैं जो पाप प्रपंच में रत रहते हैं, ऐसे मिथ्यागुरुओं द्वारा बनाये या बताए जा रहे मार्ग पर चलकर मिथ्यादेवों को मानना, उनकी पूजा-अर्चना करना मिथ्या धर्म है। सत्य तो यह है कि ऐसी मिथ्या मान्यता संसार में व्याप्त है।

जगत में मिथ्यात्व अज्ञान ऐसा ही है कि जल को पूजेंगे तो जलवर्षा होगी, अग्नि को पूजेंगे तो भला होगा, वृक्ष को पूजेंगे तो सौभाग्य होगा, पुत्रादि की प्राप्ति होगी। संसारी प्राणियों को सांसारिक सुख की कामना होती है तथा वे रोग-वियोगादि दुःखों से बचना चाहते हैं, मिथ्यागुरु अपने स्वार्थ साधन के लिए धन आदि के लोभ से भक्तों को उपदेश देते हैं कि यदि इनको पूजोगे तो दुःखों से छूट जाओगे। भयभीत प्राणी उनके उपदेशों को मान कर ऐसे मिथ्या देवों की आराधना करके अपनी शक्ति, धन व जीवन का दुरुपयोग करते हैं।

मिथ्यादेव, गुरु, धर्म की श्रद्धा करने से सच्चे देव-गुरु, धर्म का श्रद्धान

नहीं हो पाता। वह न तो आत्मा को पहिचानता है न पुण्य-पाप को समझता है। वह संसारासक्त रहता है तथा अपना अनर्थ करता है। मिथ्यादेव, गुरु, धर्म की मान्यता देवमूढ़ता, गुरु मूढ़ता, लोक मूढ़ता में गर्भित है।

मिथ्या देव, गुरु, धर्म की मान्यता के भाव अनन्त संसार के बन्धन में फँसाने वाले हैं एवं निगोद का पात्र बनाते हैं।

ज्ञान तो वह है जिससे बाह्य वृत्तियाँ रुक जाती हैं, संसार से प्रीति घट जाती है। वह वस्तु स्वरूप को जान लेता है जिससे आत्मा में ज्ञान गुण प्रगट होता है।

८. मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र : तीन भाव

गाथा-१६

मिथ्या दर्शनं न्यानं, चरनं मिथ्या दिस्टते ।

अलहन्तो जिनं उक्तं, निगोयं दल पस्यते ॥

अन्वयार्थ- (मिथ्या दर्शनं न्यानं) मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान (चरनं मिथ्या दिस्टते) सहित चारित्र भी मिथ्या देखा जाता है (अलहन्तो जिनं उक्तं) जिनेन्द्र कथित सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र मयी रत्नत्रय मार्ग से विचलित होकर (निगोयं दल पस्यते) निगोद का पात्र होता है, ऐसा देखा गया है।

विशेषार्थ- सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की एकता मोक्षमार्ग है, आत्मा को कर्मबन्ध से छुड़ाने वाला है। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र संसार भ्रमण का कारण है। जिनेन्द्र कथित मार्ग के विपरीत चलने वाले निगोदादि दुर्गति के पात्र होते हैं।

अज्ञान दशा में जीव कर्मों का आस्रव बन्ध करता है जिससे संसार परिभ्रमण रूप दुःख भोगता है। इसका कारण यह है कि अज्ञानी जीव को अपने स्वरूप के सम्बन्ध में भ्रम है जिसे मिथ्यादर्शन कहा जाता है। दर्शन का एक अर्थ मान्यता भी है इसलिए मिथ्यादर्शन का अर्थ मिथ्या मान्यता है। जहाँ अपने स्वरूप की मिथ्या मान्यता होती है वहाँ जीव को अपने स्वरूप का मिथ्याज्ञान होता है और जहाँ मिथ्याज्ञान होता है वहाँ चारित्र भी मिथ्या ही होता है, इस मिथ्या या खोटे चारित्र को मिथ्याचारित्र कहा जाता है। यदि अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह त्याग, मिथ्या दर्शन सहित हों तो वह संसार में दीर्घकाल तक परिभ्रमणकारी दोषों

को उत्पन्न करते हैं, जैसे-विषयुक्त औषधि से लाभ नहीं हानि ही होती है।

विशेष यह है कि धर्मपरिणत जीव को शुभोपयोग भी हेय है, त्याज्य है क्योंकि वह बन्ध का कारण है। ऐसा श्रद्धान प्रारंभ से ही न होने पर आस्रव बंध तत्त्व की सत्य श्रद्धा नहीं होती; अतः अज्ञानी जीव बंध को संवर रूप मानते हैं, शुभभाव को हितकर मानते हैं।

जो गुणस्थान के अनुसार यथायोग्य साधकभाव, बाधकभाव, और निमित्तों को यथार्थतया न जाने, उसे मिथ्याज्ञान होता है जिसे निगोदगामी कहा है। जिनवाणी में नय अपेक्षा कथन करते हुए व्यवहार नय को निश्चय नय का सहायक (हस्तावलंबन रूप) कहा है किन्तु शुभोपयोग बन्ध का ही कारण है अतः उसका फल संसार ही है। निश्चय नय भूतार्थ है सत्यार्थ है जिसके आचरण से सम्यग्दर्शन की उपलब्धि होती है; अतः यहाँ निश्चय नय की प्रधानता से कथन किया गया है। निश्चय नय के ज्ञानाभाव में जीव जब तक व्यवहार में मग्न रहता है तब तक आत्मा का ज्ञान, श्रद्धान रूप निश्चय सम्यक्त्व नहीं हो सकता। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र के भाव जीव को निगोद का पात्र बनाते हैं।

इस दुःख स्वरूप संसार का मूल कारण मिथ्यादर्शन है। जो कोई मोक्ष के सुख को चाहता है उसे मिथ्यात्व का त्याग करना चाहिए। मिथ्याज्ञान के अहंकारी व्यक्ति मिथ्या मूढ़ भाव से मोहित होकर आत्मा के सत्स्वरूप तक नहीं पहुँच पाते हैं।

९. मिथ्या संजम, मिथ्यातप, मिथ्यापरिनै : तीन भाव

गाथा-१७

मिथ्या संजमं क्रित्वा, तव परिनै मिथ्या संजुतं ।

सुद्ध तत्त्वं न पस्यन्ते, मिथ्या दल निगोदयं ॥

अन्वयार्थ- (मिथ्या संजमं क्रित्वा) मिथ्यात्व सहित संयम का पालन करता है (तव परिनै मिथ्या संजुतं) तथा मिथ्या तप और मिथ्या परिणमन में लीन रहता है (सुद्ध तत्त्वं न पस्यन्ते) शुद्ध आत्मतत्त्व का जो अनुभव नहीं करते हैं (मिथ्या दल निगोदयं) यह तीनों मिथ्या संजम, मिथ्या तप, मिथ्या परिणमन निगोद ले जाने वाले हैं।

विशेषार्थ- सम्यग्दर्शन सहित संयम, तप और परिणमन या चारित्र्य मोक्षमार्ग है। जहाँ शुद्धात्म तत्त्व का अनुभव है वहीं सच्चा सम्यग्दर्शन है, सच्चा संयम, सच्चा तप और आत्म परिणमन रूप चारित्र्य है। मिथ्यादर्शन सहित कठिन संयम, तप व चारित्र्य भी मिथ्या है और संसार का कारण है; क्योंकि मिथ्यादृष्टि न तो शुद्धात्म तत्त्व को पहिचानता है और न ही मोक्षतत्त्व को जानता है। मिथ्यादृष्टि को कोई न कोई कषाय-वासना रहती ही है, जो बाह्य व्यवहार में दृष्टिगोचर नहीं होती। बाह्य व्यवहार में वह संयम, तप, चारित्र्य का पालन करता है और अंतर में वासना, इच्छा, मायाचारी से ग्रसित होता है; अतः ऐसे जो संसारी कामना वासना को लेकर बाह्य संयम, तप और चारित्र्य का पालन करते हैं किन्तु अंतरंग में शुद्धात्म तत्त्व का अनुभवन नहीं करते वे द्रव्यलिङ्गी साधु भी मिथ्या संयम, तप, चारित्र्य के कारण निगोद के ही पात्र होते हैं।

परमार्थभूत आत्मज्ञान से शून्य जो तप व व्रत धारण करते हैं वह सर्वज्ञदेव के कथनानुसार अज्ञान तप और अज्ञान व्रत के कर्ता हैं। शुद्धात्म अनुभव के बिना अज्ञान तप करने वाले पुण्य रूप शुभ भाव करते हैं किन्तु मोक्ष व मोक्ष के साधन को नहीं जानते जो वस्तुतः संसार का ही कारण है।

जहाँ मिथ्यात्व का अंश है, अज्ञानभाव, विपरीत मान्यता है वहाँ बाह्य में कितना ही संयम, तप, चारित्र्य का पालन किया जाये, वह सब आस्रव बन्ध का ही कारण है। इससे भले ही पुण्यबन्ध होगा किन्तु मुक्ति नहीं हो सकती। आत्मज्ञान रहित जितनी भी क्रियाएँ हैं वे सब बन्ध की ही कारण हैं और निगोद में ले जाने वाली हैं।

प्रश्न-क्या संसारी जीव को व्रत-संयम-तप का पालन नहीं करना चाहिए ?

समाधान -जहाँ जन्म-मरण के बन्धन से छूटकर संवर- निर्जरा पूर्वक मोक्ष प्राप्त करने की बात चल रही हो वहाँ सभी विपरीत भाव संसार के कारण हैं। विपरीत मान्यता रूप परिणमन तो संसार का कारण ही है, यहाँ तक कि सम्यक्त्व सहित संयम-तप भी पुण्य भाव होने से बन्ध के ही कारण हैं अतः मोक्षाभिलाषी इनसे भी बचने का भाव रखते हैं; किन्तु संसारी जीव को पाप विषय-कषाय से बचने के लिए व्रत, संयम, तप का साधन बताया है, जिसका पालन करने से पापबन्ध से बचकर वह दुर्गतियों से बच सकता है; तो भी इससे उसे मुक्ति नहीं मिल सकती।

प्रश्न-परन्तु यहाँ मिथ्या संयम, तप से निगोद का पात्र होना बताया है, इसका क्या अभिप्राय है ?

समाधान- मिथ्यात्व सबसे बड़ा पाप है। जीव के भाव अपेक्षा अज्ञान मिथ्यात्व सहित

जीव किस भाव से क्या करता है ? उसका अभिप्राय क्या है ? यह बहुत सूक्ष्म विषय है। वस्तुतः मूल अभिप्राय में जब जैसा भाव हो उसी के अनुसार वह गति पाता है। जैसे कोई साधु सन्यासी होकर मठ बनवाते हैं, धन एकत्रित करते हैं, शिष्य समुदाय बढ़ाते हैं, पैर पुजवाते हैं, मान-सम्मान चाहते हैं, अधर्म अन्याय अनीति करते हैं। कोई पुण्य प्राप्ति का, परलोक में इन्द्र पद या राजा-महाराजा के ऐश्वर्य का भोग करने की अभिलाषा रखकर चारित्र्य पालते हैं। ऐसे हिंसाकारी-रागवर्धक कर्म करते हुए अपने को संयमी-तपस्वी व चारित्र्यवान मान लेते हैं, जो महान बन्ध का कारण है। इस बन्ध के कारण जीव नीच गोत्र, एकेन्द्रिय निगोद आदि में जन्म लेते हैं।

१०. माया, मिथ्या, निदान : तीन भाव

गाथा-१८

माया अत्रितं रागं, मिथ्यात मय संजुतं ।

असत्यं निदान बन्धं, त्रिभंगी नरयं दलं ॥

अन्वयार्थ-(माया अत्रितं रागं) मिथ्या क्रिया, झूठा राग भाव माया है (मिथ्यात मय संजुतं) मिथ्यात्व में लीन रहना, मिथ्याभाव है (असत्यं निदान बन्धं) असत् पदार्थ की तृष्णा निदान बन्ध है (त्रिभंगी नरयं दलं) यह तीनों भाव नरक में पतन कराने वाले हैं।

विशेषार्थ- माया, मिथ्या, निदान यह तीनों भाव महान कर्मास्रव के कारण हैं क्योंकि तीनों में तीव्र लोभ, राग की भूमिका है। लोभ के सद्भाव में, लोभ के वशीभूत होकर मायाचारी करता है, मिथ्यात्व का सेवन करता है तथा निदान भाव करता है। माया, मिथ्या, निदान यह तीन शल्य भी हैं। जब तक माया, मिथ्या, निदान के भाव रहते हैं तब तक जीव निराकुल, निःशल्य, निश्चित नहीं हो सकता है।

मायाचार स्व- पर दोनों को बहुत दुःखदायी है। यह जीव लोभ के वशीभूत होकर दूसरों को ठगने के लिए मिथ्याभावों को विचारता है, मिथ्यावचन कहता है, मिथ्या व्यवहार करता है, कुटिलताई से मन-वचन-काय द्वारा अपने परिणामों को महान हिंसक बना लेता है। मायाचार, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह पाँचों पापों का मूल है। **“ऐसा नहीं ऐसा होता”**, यह माया शल्य का भाव है जो जीव को समता-शांति से नहीं रहने देता। वह परिग्रह में मूर्खवान होने से नरकायु बांध लेता है। **“ऐसा न हो जाये”** यह

भाव मिथ्या शल्य है। मिथ्यात्व सहित धर्म की क्रिया विपरीत होती है, इसमें पाप-पुण्य का भी विवेक नहीं रहता, धर्म-अधर्म का विचार नहीं होता, अपने मन की तृप्ति के लिए अर्थ-अनर्थ न्याय-अन्याय कुछ भी करता रहता है। कुदेव, कुगुरु, कुधर्म का सेवन करता है। इन मिथ्या भावों से घोर हिंसादि पाप होते हैं, तब हिंसानन्दी भाव से नरकायु का बन्ध होता है।

निदान भाव के कारण जीव आगामी भोग सामग्री की गहन तृष्णा रखता है।

“ ऐसा नहीं, ऐसा करूँगा ऐसा करना है, ऐसा होना है ” यह निदान शल्य है, जिसकी कभी पूर्ति व तृप्ति नहीं होती। मन की सक्रियता से यह तीनों माया-मिथ्या-निदान भाव होते हैं, जो जीव को नरक में पतन कराने वाले होते हैं।

जो भोगार्थी, अज्ञानी, मोही होकर निदान भाव करके धर्म का साधन करता है, वह चिन्तामणि रत्न को काग उड़ाने में फेंक देता है। चारित्र साधना में काम और क्रोध यह दुर्गुण घोर बाधक हैं। इन्द्रिय, मन और बुद्धि, यह तीनों काम के आधार हैं; अतः इनका नियमन भी चारित्र की सम्पन्नता के लिए परम आवश्यक है अन्यथा ज्ञान और विज्ञान दोनों नष्ट हो जायेंगे।

चारित्र की नींव पर ही अध्यात्म का भव्य भवन खड़ा किया जा सकता है। चारित्रहीन व्यक्ति अध्यात्म का रसास्वादन कभी नहीं कर सकता।

११. राग, द्वेष, निदान : तीन भाव

गाथा-१९

रागादि भावनं क्रित्वा, दोषं निदान त्रिधत्ते।

अत्रितं उत्साहं भावं, त्रिभंगी थावरं दलं॥

अन्वयार्थ-(रागादि भावनं क्रित्वा) रागादि की भावना करने से (दोषं निदान त्रिधत्ते) दोष और निदान भाव बढ़ते हैं (अत्रितं उत्साहं भावं) क्षणभंगुर, नाशवान भोगों में उत्साह और उनके भाव (त्रिभंगी थावरं दलं) यह तीन भाव स्थावर काय में ले जाने वाले हैं।

विशेषार्थ- पाँचों इन्द्रियों के भोगों का रागभाव संसार का मूल कारण है, इसी से द्वेष व निदान भाव बढ़ता है।

यह भोग मिथ्या हैं, असार हैं, क्षणभंगुर, नाशवान अतृप्तिकारी हैं किन्तु इनकी कामना, वासना, तीव्र उत्साह परिणामों में रहता है। इनमें बाधक कारणों से द्वेष होता है तथा साधक कारणों के आने की तीव्र अभिलाषा होने के कारण निदान भाव होता है। इन्हीं भावों से निरन्तर कर्मों का बन्ध होता है जो स्थावर काय में ले जाते हैं।

भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी, कल्पवासी, दूसरे स्वर्ग तक के मिथ्यादृष्टि देव विषयों के अत्यंत रागी होते हैं।

जब माला मुरझाने लगती है तब बड़ा शोक भाव पैदा हो जाता है। वियोग होने वाला है, उसमें द्वेष पैदा हो जाता है, साथ में निदान भी होता है।

देव योनि से जाने के बाद भी भोग मिलें, उस समय ऐसे आर्त परिणामों से यह जीव तिर्यच आयु, स्थावर नामकर्म बांध लेता है और देव मरकर वृक्षादि स्थावर काय में पैदा हो जाते हैं।

सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जावे तो सभी मिथ्यादृष्टि जीव इन तीन भावों में रात दिन ग्रसित रहते हैं। जो साधक इन पाँचों इन्द्रियों के राग में फँसा हुआ है, क्षणभंगुर विषय भोगों का तीव्र उत्साह रखता है, वह इन कार्यों में जो बाधक होता है उससे द्वेषभाव रखता है; उसको नष्ट करने, मारने, हटाने के भाव में निरंतर लगा रहता है।

रागभाव की पूर्ति कब और कैसे होगी, इसका निदान भाव करता रहता है; जिससे निकृष्ट कर्माश्रय कर स्थावर काय में चला जाता है।

प्रश्न -जो साधक पाँचों इन्द्रियों के विषयों का त्यागकर संयम का पालन करता हुआ धर्म साधना कर रहा है, वह इन भावों में लगकर स्थावर काय होगा, इसका प्रयोजन क्या है ?

समाधान- बाहर से पाँचों इन्द्रियों के विषयों का त्याग कर देना, संयम का पालन करना सहज है परंतु विषयों की रसबुद्धि, रागबुद्धि यही कर्माश्रय बन्ध का कारण है।

यह अन्तरंग परिणति सूक्ष्म है, जो साधक को अपने ज्ञान-ध्यान-साधना से विचलित भ्रष्ट करती रहती है। विषयों के प्रति राग-भाव व रसबुद्धि स्थावर काय का बन्ध कराती है। मानसिक व्यभिचार महान पाप बन्ध का कारण है इसलिए साधक को अन्तर में अत्यधिक सावधान रहने की आवश्यकता है, यह सावधानी ही कल्याण का मार्ग है।

१२. मद, मान, माया : तीन भाव

गाथा-२०

मदस्टं मान सम्बन्धं, माया अत्रितं क्रितं ।

भावं असुद्ध सम्पूर्णं, त्रिभंगी थावरं दलं ॥

अन्वयार्थ-(मदस्टं मान सम्बन्धं) मद आठ प्रकार का होता है जो मान से सम्बन्ध रखता है (माया अत्रितं क्रितं) झूठी मायाचारी करना (भावं असुद्ध सम्पूर्णं) यह तीनों भाव सर्वथा अशुद्ध भाव हैं (त्रिभंगी थावरं दलं) इन तीनों भावों में फँसा जीव स्थावर काय का पात्र होता है ।

विशेषार्थ- जगत में पुण्य के उदय से मनुष्य को आठ प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त होती हैं उत्तम जाति, उत्तम कुल, धन, रूप, बल, अधिकार, विद्या, तप । इन आठों शक्तियों में से कुछ विशेषताएँ होने पर अज्ञानी जीव अभिमानी हो जाता है, मद करने लगता है, इसलिए यह आठ मद कहलाते हैं । जैसे कोई नशा करने से मनुष्य मदमत्त हो जाता है उसी प्रकार इस मद में जीव मदहोश हो जाता है । इनमें ज्ञान और तप का मद करने से तिर्यच आयु नीच गोत्र बाँधकर एकेन्द्रिय स्थावर में जन्मता है । मान कषाय सिर पर चढ़कर बोलती है । मानी, क्रोधी होता है । अपने अहंकार के नशे में डूबा रहता है, हमेशा द्वेषभाव ही चलता रहता है । अपना बड़प्पन प्रगट करने के लिए मान-बड़ाई में धन खर्च करता है अर्थात् धर्म भी अभिमान की पुष्टि के लिए करता है । मन में कठोर भाव होने से दया नहीं होती, उसका एक ध्येय अभिमान पोषण हो जाता है । यदि कोई जरा सा भी अपमान करे तो वह शत्रु बन जाता है और शत्रु का किसी भी तरह से अपमान और नाश करने की कोशिश करता है । मायाचारी भी इन्हीं सब कार्य-कारणों से होती है, मन में कुछ रहता है, वचनों से कुछ कहता है और शरीर से कुछ करता है । हमेशा अपने भावों में कुटिलता रहती है । इन तीनों भावों से अशुभ आयुबन्ध होता है जिससे स्थावर आदि में जाना पड़ता है । अपने उन गुणों को कहना जो स्वयं में नहीं हैं, दूसरों के उन गुणों को ढाँकना जो उनमें हैं । स्वप्रशंसा, परनिंदा, नीच गोत्र के आस्रव भाव हैं । अज्ञानी जीव शास्त्रों का रहस्य नहीं समझता अतः उसका समस्त ज्ञान, कुज्ञान है । मिथ्यादृष्टि, ग्यारह अंग नौ पूर्व का पाठी हो तो भी वह अज्ञानी ही है । द्रव्यलिङ्गी विषय सेवन छोड़कर, तपश्चरण करे तो भी वह असंयमी ही है । द्रव्यलिङ्गी दिग्गम्बर साधु नौ कोटि बाढ़ ब्रह्मचर्य पालन करे, मन्द कषाय करे परन्तु आत्मा का भान न होने से उसे चतुर्थ व पंचम गुणस्थान वाले ज्ञानी से हीन बतलाया है ।

१३. कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र : तीन भाव

गाथा-२१

कुदेवं कुगुरुं वन्दे, कुशास्त्रं चिंतनं सदा ।

विकहा अत्रित सद्भावं, त्रिभंगी नरयं दलं ॥

अन्वयार्थ-(कुदेवं कुगुरुं वन्दे) जो कुदेवों, कुगुरुओं की वन्दना भक्ति करता है (कुशास्त्रं चिंतनं सदा) हमेशा कुशास्त्रों को पढ़ा करता है, उनका चिंतन करता है (विकहा अत्रित सद्भावं) खोटी कथा, व्यर्थ चर्चा में लगा रहता है (त्रिभंगी नरयं दलं) इन तीनों के आराधन से नरक गति का पात्र हो जाता है ।

विशेषार्थ- राग-द्वेष, मोह संसार है, जो देव इन राग-द्वेष, मोह के वशीभूत हैं, अज्ञानी हैं वे सब कुदेव हैं । व्यंतर, भवनवासी, ज्योतिषी, वैमानिक देवों को अपना इष्ट करने वाले इष्टदेव मानना, उनकी पूजा वन्दना, भक्ति करना कुदेव की मान्यता है; क्योंकि सच्चे देव वीतरागी, सर्वज्ञ, हितोपदेशी परमात्मा अरिहन्त-सिद्ध होते हैं जो मोक्षगामी हैं, जिन्होंने सभी जीवों को आत्मस्वरूप का बोध कराया और संसार के दुःखों से छूटने का उपाय बतलाया है ।

अज्ञानी जीव पुत्र-धनादि सांसारिक प्रयोजन का लोभी होकर कुगुरु द्वारा बताये हुए रागी-द्वेषी देवों की आराधना किया करता है । उन देवों को प्रसन्न करने के लिए हिसक कार्य पशुबलि तक दे देता है, उनसे सदा भयभीत रहता है, उनकी अवमानना में अपना नाश मानता है । देवगतिधारी इन्द्र, धरणेन्द्र, पद्मावती, देवी, चक्रेश्वरी, राक्षस, भूत, पिशाच, आदि सब संसारी रागी, द्वेषी कुदेव हैं । इनकी मान्यता वन्दना करना घोर मिथ्यात्व है जो नरकादि दुर्गति में ले जाने वाला है ।

परिग्रहधारी, आरंभासक्त कुदेवों को पुजवाने वाले धनलोभी अनेक प्रकार के कुगुरु हैं, जो नाना वेश में मिथ्यात्व का जाल फैलाते हैं । उनके उपदेश से ही कुदेवों की भक्ति परंपरा चल रही है ।

कुशास्त्र वे हैं, जिनमें मिथ्याधर्म का उपदेश हो, एकांत कथन हो, हिंसा में धर्म बताया गया हो, पापबन्ध के कारणों और पुण्य को धर्म कहा हो । स्त्रीकथा, भोजनकथा, राजकथा, चोरकथा आदि सांसारिक प्रपंचों में उलझाने वाली व्यर्थ चर्चा, राग-द्वेष को बढ़ाने वाली कथाएँ भी कुशास्त्र हैं ।

स्वार्थी प्राणी लोभ के वशीभूत कुधर्म पोषक मिथ्या शास्त्रों को मानता है,

पढ़ता-पढ़ाता है व उपन्यास, कहानी पढ़कर मन को रागी व कामी बनाता है।

तीव्र सांसारिक ममत्व के कारण ऐसा कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र का भक्त देवमूढ़ता, पाखण्ड मूढ़ता में फँसा रहता है और नरकायु बांधकर नरक गति में चला जाता है।

किसी फल की इच्छा करके आशावान होकर राग-द्वेष से मलीन देवताओं की मान्यता भक्ति करना देव मूढ़ता है। आरम्भ-परिग्रह व हिंसादि कर्म में लीन संसार की वासनाओं से ग्रसित गुरुओं की भक्ति करना गुरु मूढ़ता है।

जो ऐसे कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र के प्रति श्रद्धा भक्ति रखते हैं उनके प्रति राग भाव रहता है, यह त्रिभंगी दल नरक ले जाने वाला है। जिसे कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र की मान्यता होती है, उसे ग्रहीत मिथ्यात्व होता ही है।

प्रश्न-जो साधक ज्ञान-ध्यान-साधना में रत संसारी पाप परिग्रह छोड़कर मुक्ति मार्ग पर चल रहा है उसे यह कुदेवादि के भावों से क्या प्रयोजन है ?

समाधान - मोक्षमार्ग की साधना में अनेक बाधाएँ हैं। अनन्तकाल से इस मार्ग में जीव कहीं न कहीं भटक ही जाता है। द्रव्यलिङ्गी साधु होकर भी जीव शुभभाव की मिठास में भ्रमित हो जाता है, अन्य संसारी जीवों को सम्प्रदाय विकास, व्यवहार धर्म प्रचार के लिए मंत्र-तंत्र, गण्डा-ताबीज देने लगता है, कुदेवादि की पूजा आराधना करने लगता है। मिथ्या मान्यताओं के लिए कथा-पुराण आदि कुशास्त्र लिखता है, कुदेवादि की पूजा, भक्ति-विधान रचकर संसारी जीवों को फँसाता है और उसके फलस्वरूप स्वयं नरकगति में चला जाता है।

जब तक निश्चय सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान नहीं होता, तब तक जीव अनेक तरह से भ्रमित होता है; अतः ऐसे कार्य-कारणों से बचने के लिए साधक को बहुत सतर्क रहना आवश्यक है।

सद्गुरु ने सूक्ष्म अंतरंग त्रिभंग रूप भावों का वर्णन किया है जिनसे सावधान न रहने पर मुक्ति के बजाय नरक जाना पड़ता है।

१४. कुल, अकुल, कुसंग : तीन भाव

गाथा-२२

कुल भावं सदा रुस्टं, अकुलं कुसंग संगते ।

अभावं तत्र अन्यानी, त्रिभंगी दल संजुतं ॥

अन्वयार्थ-(कुल भावं सदा रुस्टं) मैं उच्च कुल का हूँ, इस भावना में सदा रंजायमान रहता है (अकुलं कुसंग संगते) नीच कुल वालों की एवं भ्रष्ट, व्यसनी जीवों की संगति करता है (अभावं तत्र अन्यानी) उस संगति से अज्ञानी होकर कुभाव में मग्न रहता है (त्रिभंगी दल संजुतं) यह तीनों तरह के भाव पाप आस्रव के कारण हैं।

विशेषार्थ- यहाँ कहा है कि कुल का गर्व, नीच कुल सेवा और कुसंगति यह तीनों भाव अज्ञान, राग-द्वेष, मोह विभावों में फँसने तथा कर्मबन्ध के कारण हैं। कुल का गर्व करते हुए यह जीव ऐसा मानता है कि हम उच्च कुल के हैं, ब्राह्मण, क्षत्रिय या जैन हैं, हमारा धर्म श्रेष्ठ है, हमारे भगवान् श्रेष्ठ हैं, जगतपूज्य हैं, हम सब कुछ जानते हैं। उच्च कुल के गर्व से उन्मत्त होकर, कठोर परिणाम रख कर अपनी प्रशंसा तथा दूसरों की निंदा करता है। उच्च कुल के गर्व में, विनय सहित शास्त्रों का अध्ययन नहीं करता, सच्चे साधु-संतों की संगति व उनकी विनय भक्ति नहीं करता। तत्त्व ज्ञान न होने से रागी-द्वेषी बना रहता है, लोभी और अहंकारी बन जाता है।

नीच कुल वाले वे हैं जो लोकनिंद्य काम किया करते हैं, जैसे-मदिरापान, अभक्ष्य भक्षण आदि। स्नान-शौच, वाक्य-कुवाक्य, कृत-अकृत्य का अविवेक और मूढ़पना रहता है। ऐसे नीच कुल वालों की संगति से जीव भी अविवेकी और मूढ़ हो जाता है, जिसका आचरण भी लोक निंद्य होता है।

कुसंगति, जीव को महापापी बना देती है। जुआँ खेलना, माँस भक्षण, मदिरापान, चोरी करना, शिकार खेलना, वेश्यासेवन करना और परस्त्री गमन यह सातों व्यसन कुसंगति से ही सीखने में आते हैं। भांग पीना, तम्बाकू खाना, चौपड़, शतरंज, ताश खेलना, बकवाद करना, परनिंदा, आत्मप्रशंसा करना, विकथाओं में रत रहना यह सब कुसंगति से ही होता है।

यह तीनों भाव महान अनर्थकारी कर्मास्रव के कारण हैं। इसलिए कर्मों के आस्रव बन्ध से बचने के लिए कुल का गर्व, नीच कुल सेवा और कुसंगति से अपने को हमेशा बचाकर रखना चाहिए। अतएव साधकों के लिए यह उचित है कि वे एकांत सेवन, मौन धारण, शास्त्र स्वाध्याय और सच्चे साधु-महात्माओं का सत्संग करें, तब ही इन भावों से बच सकते हैं।

कुलहीन जीव भी सत्संगति से सच्चे गुणों को पाकर महान

दशा को प्राप्त कर सकता है; तथा यदि गुणहीन की संगति हो तो ऊँचे कुल का मानव भी क्षणमात्र में लघुता को पा जाता है; अतः जगत में गुण ही पूज्य हैं।

१५. अन्नित, अचेत, परिणाम : तीन भाव

गाथा-२३

अन्नित अचेत दिस्टंते, परिणामं जत्र तिस्टते ।

अन्यानी मूढ दिस्टी च, मिथ्या त्रिभंगी दलं ॥

अन्वयार्थ-(अन्नित अचेत दिस्टंते) क्षणभंगुर, नाशवान, अचेतन पदार्थों की ओर देखता है (परिणामं जत्र तिस्टते) जहाँ यही परिणाम रहते हैं (अन्यानी मूढ दिस्टी च) ऐसे अज्ञानी मूढ दृष्टि जीव (मिथ्या त्रिभंगी दलं) मिथ्या मय इन तीन भावों से कर्मास्रव करते हैं।

विशेषार्थ- क्षणभंगुर, नाशवान पदार्थों को देखना, अचेतन, जड़ पुद्गल को देखना और उन्हीं के भावों में परिणाम का ठहरना, यह तीनों भाव कर्मास्रव के कारण हैं। अज्ञानी, मूढ दृष्टि जीव इन मिथ्या भावों से कर्म का आश्रय बंध करता रहता है।

पर में दृष्टि होना तथा वैसा ही भाव रखना उनके परिणामों में ही ठहर जाना कर्मास्रव है। संसार क्षणभंगुर, नाशवान पदार्थों से भरा पड़ा है। धन, वैभव, महल, मकान, मंदिर, दुकान शरीरादि जड़, अचेतन, नाशवान हैं। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव विषयों के दास बने रहते हैं। धन प्राप्ति के लिए अन्याय, अनाचार, हिंसा आदि पाप करते हैं। दूसरों के महल मकान, धन, वैभव आदि देखकर हमेशा उनका ही विचार करते रहते हैं। उन्हीं भावों में रत रहते हैं और व्यर्थ में कर्मबन्ध करते हैं। साधक भी इन क्षणभंगुर, अचेतन पदार्थों को देखकर, उनका परिणाम करके कर्मास्रव करता है।

धन-परिवार की ओर देखने से मोह-माया-लोभ के भाव होते हैं। शरीर की तरफ देखने से विषय-विकार के भाव होते हैं। धन-वैभव की मूर्छा तथा उस ओर देखने से पाप परिग्रह, करने-धरने के भाव होते हैं। समाज की तरफ देखने से राग-द्वेष के भाव होते हैं, संसार देश की तरफ देखने से राजनीति, लड़ने-मरने के भाव होते हैं।

पर का विचार, पर की चिन्ता, मन की कल्पना, विकल्प आदि आकुलता, अशांति और दुःख के कारण हैं। जहाँ उपयोग रहता है, वहाँ इष्ट बुद्धि हो तो सुख का वेदन तथा जहाँ अनिष्ट बुद्धि हो तो दुःख का वेदन होता है। जहाँ जीव की रुचि-दृष्टि होती है, उपयोग वहीं

जाता है। मोह, राग-द्वेष के वशीभूत ऐसा जीव दुःख पाता है; अतः इन सबसे बचने के लिए अपनी दृष्टि, अपनी रुचि अपनी ओर लगाना चाहिए।

विकल्प करने वाला मूर्ख, अज्ञानी होता है। जो जीव अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है, उसका सारा परिणाम मन के आश्रित होता है, जिससे सुख-दुःख, आकुलता-व्याकुलता, भय-चिन्ता, पुण्य-पाप, जन्म-मरण, आदि कर्मबन्ध होता रहता है।

मन के लिए दो मार्ग हैं - १. इन्द्रियों के विषय भोग २. माया की चाह इन दोनों के न होने पर मन मर जाता है।

अपनी आत्मा का विचार, आत्म चिंतन-मनन, आत्मस्मरण ध्यान ही निराकुलता, शांति और आनन्द का कारण है।

१६. असुद्ध, अभाव, मिश्र : तीन भाव

गाथा-२४

असुद्ध भाव संजुतं, मिश्र भाव सदा रतो ।

संसार भ्रमनं बीजं, त्रिभंगी असुह उच्यते ॥

अन्वयार्थ-(असुद्ध भाव संजुतं) अशुद्ध भाव अर्थात् शुभाशुभ भाव में लीन होना (मिश्र भाव सदा रतो) मिश्र भाव अर्थात् शुभाशुभ मिश्रित भाव में सदैव रत रहना (संसार भ्रमनं बीजं) यह संसार भ्रमण के बीज हैं (त्रिभंगी असुह उच्यते) इन तीनों भावों को अशुभ कहा गया है।

विशेषार्थ- शुभ-अशुभ और मिश्र, यह तीनों भाव संसार भ्रमण के बीज हैं, इन तीनों भावों को अशुभ कहा गया है। मंद कषाय से होने वाले शुभभाव- दया, दान, परोपकार, संयम, तप, पूजा, भक्ति, करुणा, मैत्री, प्रमोदभाव यह सब शुभ भाव कहे जाते हैं।

तीव्र कषाय से होने वाले अशुभ भाव- हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, अन्याय, अनीति, अत्याचार, व्यभिचार, बैर-विरोध, निन्दा आदि यह सब अशुभ भाव कहे गये हैं। यह शुभ और अशुभ दोनों अशुद्ध भाव कहे जाते हैं। शुभ और अशुभ दोनों मिले हुए भाव मिश्र भाव कहलाते हैं। यदि किसी से जरा सा भी राग है तो द्वेष होगा ही। राग में मिठास होती है, वह पुण्य रूप है; द्वेष में खटास होती है, वह पाप रूप है। इन्हीं दोनों से पुण्य-पाप बन्ध होता है। संसारी कार्य-कारण, निमित्त-संयोग में रहने से शुभभाव और शुभ क्रिया

होती है, वैसे ही कर्म बन्ध होते हैं। शुभभाव से पुण्यबन्ध, अशुभभाव से पापबन्ध, मिश्र भाव से पुण्य-पापबन्ध होता है। शुद्ध स्वभाव से मुक्ति होती है। शुभभाव पुण्यबन्ध की जब तक पकड़ रहेगी तब तक पाप अशुभ भाव भी नहीं छूट सकते। शुभ भाव, पुण्य के साथ धन का संबंध रहता है तथा धन के बीच में होने से पाप होता ही है।

जब तक पुण्य-पाप का लगाव नहीं छूटता, तब तक धर्म नहीं हो सकता। धर्म साधना में शुभभाव, रागभाव, पुण्य का लगाव सबसे बड़ी बाधा है। पाप के उदय, पाप के संयोग या पाप को करते हुए धर्म साधना संभव नहीं है। चाह से चिन्ता, मोह से भय, और राग से संकल्प-विकल्प होते हैं। जिस कर्मोदय, निमित्त, संयोग, वातावरण में रहेंगे, वैसे ही भाव और क्रिया होगी तथा उनमें लिप्तता से वैसे ही कर्मबन्ध भी होगा।

शुभ-अशुभ, मिश्र तीनों भावों से कर्मास्रव होता है जो संसार भ्रमण का बीज है। निर्बन्ध, मुक्त होने के लिए शुद्ध स्वभाव, शुद्धात्मा का अनुभव ही एकमात्र हितकारी है। मोक्षमार्ग के साधक को शुभ परिणाम भी आकुलित करते हैं, वह उनसे बचने का प्रयत्न करता है। ऐसे भाव आते हैं तो भी वह स्वरूप में स्थिरता का उद्यम करता है। किसी न किसी समय बुद्धिपूर्वक जब सभी विकल्प छूट जाते हैं तब वह सहज में स्वरूप में स्थिर हो जाता है और सिद्धत्व के आनंद का अनुभव करता है, यही शुद्धात्मानुभूति मुक्ति का मार्ग है।

१७. आलस, प्रपंच, विनासदिष्टि : तीन भाव

गाथा-२५

आलसं प्रपंचं क्रित्वा, विनास दिष्टि रतो सदा ।

सुद्ध दिष्टि न हृदये चिंते, त्रिभंगी थावरं पतं ॥

अन्वयार्थ-(आलसं प्रपंचं क्रित्वा) आलस और प्रपंच करके या करता हुआ (विनास दिष्टि रतो सदा) विनाश दृष्टि में सदा रत रहता है अर्थात् हमेशा दूसरों का बुरा विचार करता रहता है (सुद्ध दिष्टि न हृदये चिंते) अपने हृदय में कभी भी शुद्धात्मा का, शुद्ध सम्यक्दर्शन का विचार नहीं करता है (त्रिभंगी थावरं पतं) इन तीनों भावों से स्थावर योनि का पात्र होता है।

विशेषार्थ- जो साधक अपने शुद्धात्म स्वरूप का हृदय में चिंतन नहीं करता तथा आलस और प्रपंच करता हुआ विनाश दृष्टि में हमेशा रत रहता है, वह स्थावर योनि का पात्र हो जाता है। **आलस-**प्रमाद को आलस कहते हैं। इसके १५ भेद होते हैं : पाँच इन्द्रिय विषय, चार कषाय, चार विकथा, निद्रा और स्नेह से अपने स्वरूप की विस्मृति रूप प्रमाद होता है। इन पन्द्रह प्रमाद में रत जीव कभी अपना आत्महित नहीं कर सकता बल्कि दुर्गति का ही पात्र होता है। पाँचों इन्द्रिय के विषय भोग व व्यर्थ चर्चा में लगे रहने से जीवन का अमूल्य समय व्यर्थ जाता है। कषायों की प्रवृत्ति और पर का स्नेह विवेक शून्य करके धर्म से भ्रष्ट करता है। निद्रा तो मृत्यु ही है, जहाँ कोई होश नहीं रहता। आलसी मनुष्य का वर्तमान जीवन भी दुःखदायक हो जाता है। **प्रपंच-**स्वयं के और दूसरों के नाश करने वाले कपट जाल को प्रपंच कहते हैं। कपटी की भावना अपने विषयों के लोभवश दूसरों को विश्वास दिलाकर उनको ठगने की रहती है। संसारी प्रपंच, बैर-विरोध, ईर्ष्या-द्वेष में फँसाना, अर्थ का अनर्थ करके बताना, आपस में झगड़ा कराना, इस तरह अन्यायपूर्वक स्वार्थ साधन के लिए कपट जाल का विचार करना, कपटरूप वचन कहना तथा कपट भरी क्रिया करना प्रपंच है। इससे हमेशा परिणामों में कुटिलता रहती है, जो एकेन्द्रिय स्थावर काय का बन्ध कराती है। **विनाशदिष्टि-**दूसरों का अहित करने की भावना में लगे रहना विनाशदृष्टि है। झूठा कागज लिखना, चोरी करना, दूसरों का वध करने के लिए कपट करना, कपट से शिकार करना, निरन्तर विचार करना कि किस तरह दूसरों को हानि हो, विनाश का भाव रखना। इन भावों में जो जीव रात-दिन फँसे रहते हैं, वे कभी भी आत्मा के पतन की चिन्ता नहीं करते। इन तीनों प्रकार के भावों से घोर पाप का बन्ध करते हैं जिससे स्थावर काय से दीर्घकाल में भी निकलना कठिन हो जाता है।

१८. संग, कुसंग, मिश्र : तीन भाव

गाथा-२६

संग मूढ मयं दिष्टा, कुसंगं मिश्र पश्यते ।

अलहंतो न्यान रूपेन, मिथ्यात रति तत्परा ॥

अन्वयार्थ-(संग मूढ मयं दिष्टा) संग-संयोग संबंध साथ को कहते हैं, इसमें मूढमति से देखना (कुसंगं मिश्र पश्यते) कुसंग और मिश्र रूप भाव से मोहित होना (अलहंतो न्यान रूपेन) अपने ज्ञान स्वरूप से भ्रष्ट विपरीत दृष्टि से (मिथ्यात रति तत्परा) मिथ्यादर्शन की प्रीति में तत्पर रहने से कर्मास्रव होता है।

विशेषार्थ- संग-मिलन, संयोग, सम्बन्ध, प्रीति भाव को कहते हैं। जहाँ आत्म स्वरूप की प्रतीति, ज्ञान की चर्चा, साधु-महात्माओं का मिलन होता है वह सत्संग कहलाता है। जिससे परिणामों में वीतरागता और आनन्द की वृद्धि हो वह सत्संग है। जहाँ समता भाव रहे वह संग है और जहाँ परिणामों में निकृष्टता आवे, राग-द्वेष-मोह की वृद्धि हो वह कुसंग है। संग-कुसंग रूप मिश्र भाव है। संग में धन, वैभव, परिवार, परिग्रह भी आता है, इनको मिथ्या बुद्धि से देखना, मूर्च्छा भाव होना यह भी कुसंग और मिश्र भाव का कारण है। अपने ज्ञान स्वरूप से भ्रष्ट अर्थात् अपने ध्रुवतत्त्व शुद्धात्मा का यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान करते हुए, मिथ्यात्व की प्रीति में तत्पर रहना, यह पापास्रव का कारण है। मिथ्यात्व भाव के द्वारा भी तीन प्रकार से परिग्रह का ग्रहण होता है-न्यायपूर्वक, अन्यायपूर्वक, दोनों रूप से। सभी परिग्रह बन्ध में निमित्त कारण हैं। परिग्रह २४ प्रकार का है, बाह्य परिग्रह के दस और अंतरंग परिग्रह के चौदह भेद हैं। १० बाह्य परिग्रह जमीन, घर, सोना, चाँदी, पशु, धान्य, दास, दासी, वस्त्र, वर्तन। १४ अन्तरंग परिग्रह- मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद।

घर-परिवार, स्त्री-पुत्रादि का संग होने से परिग्रह में लोलुपता होती है। लोलुपता होने से अति परिग्रह का संचय चाहता है। परिग्रह के अधिक संचय से लोभ बढ़ता है, लोभ से परंपरा दुःख होता है। धन सभी अनर्थों का मूल है मोक्ष में बाधक है, कषायों को पैदा करने वाला है, दुःखों को जन्म देने वाला है। धन की तृष्णा से जो अन्धे हैं वे स्व-पर हित या अहित को नहीं देखते हैं। पुण्य- पाप, न्याय- अन्याय का भी विचार नहीं रहता है।

जो जीव परिवार के मोह में अन्धे हैं, वे तो परिग्रह की मूर्च्छा में ही रत रहते हैं परन्तु जो जीव धर्म के नाम पर चेला-चेली पालते हैं, मठ-मंदिर बनवाते हैं, धन-संग्रह, पाप-परिग्रह करते हैं; वह मूढ़ बुद्धि, संग-कुसंग-मिश्र भाव में रत रहते हुए पाप का बंध कर दुर्गति में जाते हैं।

१९. आसा, स्नेह, लोभ : तीन भाव

गाथा-२७

**आसा स्नेह आरक्तं, लोभं संसार बन्धनं ।
अलहन्तो न्यान रूपेन, मिथ्या माया विमोहितं ॥**

अन्वयार्थ-(आसा स्नेह आरक्तं) आशा- विषयों की चाह, स्नेह-विषयभोग के साधन; निमित्त में आसक्त रहना (लोभं संसार बन्धनं) लोभ-धनादि की तृष्णा संसार का बन्धन है (अलहन्तो न्यान रूपेन) अपने ज्ञान स्वरूप से भ्रष्ट होकर अर्थात् आत्मज्ञान को न पाकर (मिथ्या माया विमोहितं) मिथ्या-माया में विमोहित रहना कर्मास्रव बन्ध का कारण है।

विशेषार्थ- इन्द्रिय विषय भोगों की भावना को आशा कहते हैं तथा इसमें निमित्त साधन धन, स्त्री, परिवार के प्रति अपार स्नेह होना है। किसी प्रकार की इच्छा-चाहना ही लोभ है जो संसार बन्धन का कारण है। अपने ज्ञान स्वरूप को भूला हुआ मानव इस मिथ्या माया में विमोहित रहता है जिससे अनंत कर्मों का बन्ध कर दुर्गति में जाता है।

संसारी जीव को यह आशा, स्नेह, लोभ की तीव्रता रहती ही है; परन्तु जो धर्म मार्ग पर चलते हैं वे साधक होकर भी अपने नाम की प्रभावना, प्रसिद्धि की आशा रखते हैं, शिष्यों से, समाज से स्नेह रखते हैं। मठ-मंदिर बनवाते, धन-संग्रह का लोभ करते हैं। साम्प्रदायिक भावना से मिथ्या-माया में मोहित रहते हैं वे अपने ज्ञान स्वरूप आत्मा का घात कर नरक के पात्र बनते हैं। प्रत्येक प्राणी में आशा रूपी गड़ढा इतना गहरा है कि जगत की सर्वसम्पदा उसमें एक परमाणु के बराबर है। आशा की दाह से पीड़ित होकर इन्द्रियों के विषयों की प्राप्ति के लिए आकुलित होता है। सांसारिक पदार्थों में धनादि में तीव्र मोह रखता है। जिनसे कुछ भी स्वार्थ सधता जानता है, उनसे स्नेह करता है। जैसे-जैसे सम्पदा मिलती है व इच्छित पदार्थ प्राप्त होते हैं, वैसे-वैसे लोभ बढ़ता जाता है। तीव्र लोभ के वशीभूत होकर न्याय-अन्याय का विचार छोड़ बैठता है। अहंकार-ममकार में फँसा रहता है, अपने आत्मा का कुछ भी विचार नहीं करता है। उसकी विषय लोलुपता तथा नाम, दाम, काम की चाह निरन्तर बढ़ती जाती है, सन्तोष चला जाता है, विवेक भी भाग जाता है।

साधक के अंतरंग में जब तक आशा-स्नेह-लोभ के भाव हैं तब तक वह अपने आत्म-स्वरूप की साधना नहीं कर सकता; अतएव आशा, स्नेह, लोभ के भाव त्यागने योग्य हैं। यह महान आस्रव के कारण हैं। माया का सूक्ष्म रूप ही यह आशा, स्नेह, लोभ हैं जब तक इससे दृष्टि नहीं हटेगी, अन्तरंग में इन भावों का उन्मूलन नहीं होगा तब तक ब्रह्मस्वरूप की उपलब्धि नहीं होगी।

२०. लाज, भय, गारव : तीन भाव

गाथा-२८

लाजं भयं हृदयं चिंते, गारव राग मोहितं ।

संमिक्तं सुद्ध तिव्रंति, मिथ्या माया त्रिभंग्यं॥

अन्वयार्थ- (लाजं भयं हृदयं चिंते) जो जीव मन में लोकलाज की या किसी प्रकार के भय की चिन्ता करते हैं (गारव राग मोहितं) तथा अपने गौरव या अभिमान के राग में मोहित रहते हैं (संमिक्तं सुद्ध तिव्रंति) उनका सम्यक्त्व छूट जाता है अथवा कभी अपने शुद्ध स्वभाव को नहीं पाते हैं (मिथ्या माया त्रिभंग्यं) वे मिथ्यादर्शन मायाचार में मग्न होकर इन तीन भावों में ग्रसित रहते हैं।

विशेषार्थ- आसन्न भावों में लाज, भय, गारव भी संसार परिभ्रमण कराने वाले हैं। इन भावों के कारण जीव अपने आत्म कल्याण के मार्ग पर नहीं बढ़ पाता।

लाज- “लोग क्या कहेंगे ?” लोकलाज, शर्म यह सब पर की अपेक्षा सांसारिक व्यवहार के कारण होती है। इस लोक लाज में जीव करने योग्य, न करने योग्य कार्यों को भी करता है, यह लोकमूढ़ता में भी फँसाती है, इसमें मायाचारी भी होती है। यह लोकलाज आत्मा के पतन का कारण होती है। जहाँ संसार में शुभ-अशुभ कार्य करना पड़ते हैं वहाँ धर्म मार्ग पर चलने में भी यह बड़ी बाधा है। संयम, तप करके साधु पद धारण करने में यह लाजभाव बड़ा बाधक कारण है। इससे मन सबल और आत्मा दुर्बल बना रहता है और भावों में दीनता-हीनता रहती है।

भय- संसारी जीव को सात भय लगे रहते हैं- १. इसलोकभय, २. परलोकभय, ३. मरणभय, ४. वेदनाभय, ५. अरक्षाभय, ६. अगुप्तिभय, ७. अकस्मात् भय। हमेशा भयभीत बने रहने, डरते रहने से भावों में निकृष्टता आती है। धर्म मार्ग पर चलने में भयभीत रहना, ऐसा न हो जाए, अब क्या होगा ? आगे कैसा होगा ? कोई अशुभ कर्म का उदय न आ जावे, पराश्रय-पराधीनपने के भाव भय के कारण होते हैं।

गारव- अभिमान, गौरव या मद को गारव कहते हैं। संसारी जीव आठ मद में फँसा रहता है-जातिमद, कुलमद, रूपमद, बलमद, धनमद, तपमद, विद्यामद, ऋद्धि मद। इनके कारण परिणामों में कठोरता और दुष्टता रहती है। अपना मान-सम्मान न होने पर दूसरों का अहित करता है, सब कार्यों में बाधा डालता है। संसारी या धार्मिक कार्य का भी विवेक नहीं रहता, मनमानी करता है।

धर्म मार्ग पर चलने वाले साधक को भी यह गारव भाव बड़ा अनिष्टकारी है। अपनी प्रशंसा, प्रभावना, प्रसिद्धि नाम के लिए मायाचारी करना पड़ती है। शुभ-अशुभ का विवेक नहीं रहता है, जिसके कारण समाज, शिष्य, धनादि तथा धनवालों के आश्रित रहना पड़ता है। अपने शुद्धात्मा, शुद्धभावना की साधना आराधना नहीं होती, इस मिथ्या माया में जो रत रहता है उसे तीनों भावों से अशुभ पापान्न होता है। पर की तरफ देखने पर, अपेक्षा रखने पर जरा सी भी चाह होगी तो लोकलाज, भय, गारव लगा रहेगा।

इस तरह जो जीव लाज, भय-गारव के भावों में लगा रहता है वह आत्मानुभव रूप शुद्ध सम्यग्दर्शन को नहीं पा सकता है। मायाचार व मिथ्याभाव में रहकर पापान्न करता है।

२१. गम, अगम, प्रमान : तीन भाव

गाथा-२९

गमस्य अगमं क्रित्वा, प्रमानं मिथ्या उच्यते ।

भवस्य भय दुष्यानं, भाजनं त्रिभंगी अस्तितं ॥

अन्वयार्थ- (गमस्य अगमं क्रित्वा) जो गम का और अगम का विचार करता रहता है अर्थात् जो वर्तमान में प्रत्यक्ष जानने में आता है वह गम्य है और जो वर्तमान में प्रत्यक्ष जानने में नहीं आता वह अगम्य है (प्रमानं मिथ्या उच्यते) जिससे जाना जावे, उस व्यक्ति, वस्तु, आगम को प्रमाण कहते हैं। ऐसे प्रमाण को मिथ्या कहकर भ्रमबुद्धि करता है (भवस्य भय दुष्यानं) वह संसार के दुःखों का, भय का (भाजनं त्रिभंगी अस्तितं) पात्र होता है, इन तीनों भावों में रत रहने से।

विशेषार्थ- जिनका जानना सुगम है, ऐसे इन्द्रिय गोचर स्थूल पदार्थ गम्य हैं। इन्द्रियों से अगोचर सूक्ष्म पदार्थ अगम्य हैं। अनुमान ज्ञान, आगम ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। इन तीनों के संबंध में मिथ्या बुद्धि, विपरीत धारणा, भ्रम होना, किसने देखा है ? कहाँ है ? ऐसा भाव रखना। स्वर्ग, नरक, परमात्मा के विषय में मिथ्या कल्पना करना और कहना, यह सब संसार के दुःखों का व भय का पात्र बनाने वाले भाव हैं।

सर्वज्ञ वीतराग भगवान ने जैसा वस्तु स्वरूप बताया है वैसा सत्श्रद्धान करने की आवश्यकता है। जिससे यह यथार्थ निर्णय हो कि यह आत्मा अपने अज्ञानरूप मोह-रागादिभावों से पाप-पुण्य रूप कर्म बांधता है तथा आप ही अपने ज्ञान स्वभाव रूप शुद्ध भावों

से कर्मों से छूट सकता है। यह आत्मा स्वभाव से परमात्मा रूप है। शुद्ध ज्ञान, दर्शन, वीर्य, आनंद आदि गुणों का समुदाय है। इसी के शुद्ध स्वरूप के श्रद्धान, ज्ञान व चारित्र को रत्नत्रय धर्म कहते हैं। यह धर्म स्वानुभव स्वरूप है। सच्चा सुख अतीन्द्रिय है जो स्वानुभव से प्राप्त होता है।

संसार असार है, शरीर जड़-अचेतन नाशवान है, रोग भोग के समान हैं। स्वाधीनता ही ग्रहण करने योग्य है, पराधीनता त्यागने योग्य है। ऐसा सच्चा श्रद्धान जिनवाणी के द्वारा तत्त्वनिर्णय, वस्तुस्वरूप जानने से होता है। ज्ञान प्रमाण है, ज्ञेय प्रमेय है। जो आत्मा को, संसार व मोक्ष को, संसार मार्ग व मोक्ष मार्ग को ठीक-ठीक नहीं जानता है, उन्मत्त की तरह कभी सत्य को सत्य; कभी असत्य को सत्य मान लेता है। कभी वह कहता है - “ ईश्वर की मर्जी से सब कुछ होता है, कभी कहता है कि-अपने कर्मों के फल से भला-बुरा होता है। ” ऐसे व्यक्ति को सत्य की गहरी प्रतीति नहीं है। वह केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को मानता है, अनुमान या आगम को नहीं मानता। इस तरह भिन्न-भिन्न प्रकार के मतों को रखते हुए गम्य-अगम्य, स्थूल-सूक्ष्म पदार्थ का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, उसको सच्चा भेदविज्ञान व आत्मिक सुख की प्रतीति नहीं होती, वह संसार के भवभ्रमण में भय और दुःख का पात्र बनता है।

जो कोई स्याद्वाद के ज्ञान में कुशल है और संयम में निश्चल है, वह सम्यक्ज्ञान व सम्यक्चारित्र के साथ निरन्तर उपयोग लगाकर अपने आत्मा की आप ही भावना करता है। वह ज्ञान व चारित्र की भिन्नता रखकर इस मोक्षमार्ग पर चलने का पात्र होता है।

जिन्हें आत्मा के स्वरूप की रुचि हुई है, उन्हें शुभराग आता है; परन्तु उन्हें राग से विरक्ति रूप वैराग्य होता है और आत्मा की अस्ति का शांत उपशम रस होता है। जिन्हें आत्मा की सच्ची रुचि नहीं है उनके भाव शुष्क और चंचल होते हैं। जिन्हें निज स्वभाव की दृढ़ श्रद्धा, रुचि और ज्ञान नहीं होता उन्हें अन्य पदार्थ का भी यथार्थ निर्णय नहीं होता, उनकी भ्रमबुद्धि रहती है जिससे कर्मास्रव होता है।

२२. अत्रित, स्तेय, काम : तीन भाव

गाथा-३०

अत्रितं त्रितं माने, स्तेयं पद लोपनं ।

कर्मना असुह भावस्य, त्रिभंगी नरयं पतं ॥

अन्वयार्थ-(अत्रितं त्रितं माने) क्षणभंगुर, नाशवान पदार्थ को शाश्वत मानता है (स्तेयं

पद लोपनं) अपने पद तथा आगम के पद का अर्थ छिपाकर चोरी करता है (कर्मना असुह भावस्य) अशुभ भावों में रत रहकर कुशील आदि काम भाव करता है (त्रिभंगी नरयं पतं) इन तीनों अनृत, स्तेय व काम भावों में रत प्राणी नरक का पात्र होता है।

विशेषार्थ- असत्, क्षणभंगुर, नाशवान पर्यायी परिणमन को सत्, शाश्वत मानना अत्रित भाव है। वस्तु का जो मूल स्वभाव है, वही सत्य है, नित्य है, अमिट है, उसको कुछ और जानना असत् भाव है।

संसार-जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन छह द्रव्यों का समुदाय है। इनमें धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्य एक-एक हैं, कालाणु असंख्यात हैं, जीव अनन्त और पुद्गल अनन्तानन्त हैं। प्रत्येक जीव, प्रत्येक द्रव्य की सत्ता सदा भिन्न-भिन्न ही रहती है। जीव का मूल स्वभाव शुद्ध, ज्ञाता-दृष्टा, वीतराग, आनन्दमय है। वह स्वभाव से परमात्मस्वरूप है। ऐसा जानने पर भी जीव को रागी-द्वेषी, अज्ञानी, पाप-पुण्य का कर्ता, कर्म फल का भोक्ता मानना जीव तत्त्व का असत्य ज्ञान है। पर्याय की अपेक्षा अशुद्ध है तथा द्रव्य की अपेक्षा शुद्ध है, ऐसा जानने में आये तो यह ज्ञान असत्य नहीं है। इसी तरह शुभकार्य, जप-तप, व्यवहार चारित्र पुण्य बन्ध का कारण है, उसको मोक्ष का कारण जानना असत्य है। विषय-कषाय पोषक सर्व क्रिया धर्म नहीं है, इसे धर्म मान लेना कषाय है।

जिनेन्द्र की आज्ञाप्रमाण वस्तु स्वरूप को न कहकर अन्यथा कहना तथा जिनवाणी के पद-अर्थ, भाव को छिपाना धर्म की चोरी है।

ब्रह्मचर्य का घात करके कुशील सेवन करना काम भाव है। सभी इंद्रियों के विषयों की कामना करना भी काम है। यह अशुभ भाव पाप बन्ध का कारण है।

जो जीव जगत में असत्य बोलते हैं, चोरी करते हैं, परस्त्री गमन करके कुशील सेवन करते हैं, अन्य विषयों का रुचिपूर्वक सेवन करते हैं, वे तीव्र राग व परिग्रह भाव से नरकायु बाँधकर नरक चले जाते हैं।

जो इस असत्य संसार को सत्य जानकर धर्म का लोप करते हैं, अपने आत्महित का साधन नहीं करते व रात-दिन विषय भोगों की कामना किया करते हैं वे भी नरक के पात्र बनते हैं। जो जिनेन्द्र की आज्ञा का लोप करके मनमाना धर्म चलाकर अपने को गुरु बनाकर धन संग्रह करते हैं तथा स्वच्छंद होकर विषयसेवन करते हैं, ऐसे धर्म के ठेकेदार आदि दुर्गति के पात्र होते हैं। जगत में झूठ, चोरी, कुशील बड़े भारी पाप हैं जिनसे इस लोक

में भी अपयश होता है और दुर्गति भी मिलती है। जब तक काम की आग मन में जलती रहती है तब तक इस जीव को निरन्तर कर्मों का आस्रव होता है।

स्पर्शन इन्द्रिय में चार कर्मेन्द्रिय (हाथ, पांव, गुदा, लिंग) और एक ज्ञानेन्द्रिय (रसना) है। जब तक चारों कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय पर विजय नहीं होती तब तक सही ब्रह्मचर्य नहीं होता।

जो यह जानता है कि मेरा स्वरूप ज्ञान मात्र है, राग मेरा स्वरूप नहीं है, उनका धनादि पर पदार्थों के प्रति ममत्व सहज ही घट जाता है, और धर्म प्रभावना आदि का भाव उल्लसित होता है। वे यह भी जानते हैं कि यह राग है, धर्म नहीं है। अन्तर शुद्ध चिदानन्द स्वरूप को जानकर उसे प्रगट किये बिना जन्म-मरण टलने वाला नहीं है।

२३. अन्यान, रति, मिश्र : तीन भाव

गाथा-३१

अन्यानी मिथ्या भावस्य, रति मूढ मयं सदा ।

मिश्रस्य दिष्टि मोहं, त्रिभंगी दुर्गति कारनम् ॥

अन्वयार्थ-(अन्यानी मिथ्या भावस्य) मिथ्या भाव का करने वाला अज्ञानी है, (रति मूढ मयं सदा) वह सदा मूढ मति में रति करता है (मिश्रस्य दिष्टि मोहं) मिश्र की दृष्टि मोह में अन्धी होती है (त्रिभंगी दुर्गति कारनम्) यह तीनों भाव दुर्गति के कारण हैं।

विशेषार्थ- अज्ञान व अविद्या संसार का मूल है। आत्मा और अनात्मा का भेदज्ञान न होना ही अज्ञान है। अज्ञानी मिथ्याभाव का कर्ता है। अज्ञान के कारण जीव मृग-मरीचिका में फँस जाता है और चमकती हुई बालू को पानी समझता है, इसी अज्ञान के कारण जीव अंधकार में रस्सी को सर्प मान लेता है और भयभीत होता है। इसी तरह अज्ञानवश रात-दिन आत्मा को राग-द्वेष मयी मानकर अज्ञानी जीव नाना प्रकार के विकल्प करते हैं। जिस तरह समुद्र पवन के योग से क्षोभित होता है उसी प्रकार अज्ञानी जीव आकुलित होते हैं।

जिसका मन मिथ्याभाव से मलिन होकर विषय-कषायों के आधीन है वह सदा मूढमति में रति करता है।

प्रत्येक मनुष्य में एक तो इन्द्रियों का ज्ञान होता है और एक बुद्धि का ज्ञान। इन दोनों के बीच मन की चंचलता है। इंद्रियों के ज्ञान में “संयोग” का प्रभाव पड़ता है और बुद्धि के ज्ञान में “परिणाम” का बोध होता है। जिनके मन में इन्द्रिय ज्ञान का प्रभाव है वह

विषय सुख भोग में लगे रहते हैं। जिनके मन पर बुद्धिज्ञान का प्रभाव होता है वह परिणाम की ओर दृष्टि रहने से विषय सुख भोग का त्याग करने में समर्थ हो जाते हैं।

स्वरूप का ज्ञान स्वयं के द्वारा स्वयं को ही होता है, इसमें ज्ञाता-ज्ञेय का भाव नहीं रहता। जिस महापुरुष को ऐसे कारण निरपेक्ष ज्ञान का अनुभव हो गया है, उसे कभी विकल्प, संदेह, विपरीत भावना, असंभावना आदि होती ही नहीं है, उसे स्थिर बुद्धि वाला कहा गया है।

अपने को कर्मों का कर्ता मान लेना तथा कर्म फल में हेतु बनकर सुखी-दुःखी होना ही अज्ञान से मोहित होना है। पुण्य-पाप हमें करना पड़ते हैं, इनसे हम कैसे छुटकारा पा सकते हैं? सुखी-दुःखी होना हमारे कर्मों का फल है इनसे हम कैसे छूट सकते हैं? इस प्रकार की धारणा बना लेना ही अज्ञान से मोहित होना है।

जीव स्वरूप से अकर्ता तथा सुख-दुःख से रहित है। वह मात्र अपनी मूढ़ता से कर्ता बन जाता है और कर्म फल के साथ सम्बन्ध जोड़कर सुखी दुःखी होता है।

अपनी सत्ता और शरीरादि को अलग-अलग मानना ज्ञान है और इन्हें एक मानना अज्ञान है।

कामना से विवेक ढँक जाता है। स्वार्थबुद्धि, भोगबुद्धि, संग्रहबुद्धि रखने से मनुष्य अपने कर्तव्य का ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर पाता। वह वर्तमान परिस्थिति को बदलने का उद्योग ही करता है; परंतु परिस्थिति को बदलना अपने वश की बात नहीं है।

बाह्य परिस्थिति कर्मों के अनुसार बनती है अर्थात् वह कर्मों का ही फल है।

धनवत्ता-निर्धनता, निन्दा-स्तुति, आदर-निरादर, यश-अपयश, हानि-लाभ, जन्म-मरण, स्वस्थता-रुग्णता आदि सभी परिस्थितियाँ कर्मों के आधीन हैं।

शुभ और अशुभ कर्मों के फलस्वरूप सुखदायी और दुःखदायी परिस्थिति सामने आती रहती हैं; परन्तु उस परिस्थिति से सम्बन्ध जोड़कर उसे अपना मानकर सुखी-दुःखी होना अज्ञानता है।

जहाँ अज्ञान तथा विषय रति दोनों ही हैं वहाँ मिश्रभाव होता है अर्थात् ज्ञानावरण का उदय और दर्शन मोह का उदय साथ होकर अज्ञान के साथ मिथ्यात्व भाव होता है।

इस प्रकार दर्शन मोह से अन्ध होकर जीव भव-भव में जन्म-मरण के दुःख सहते हैं।

ज्ञानी को यथार्थ द्रव्य दृष्टि होती है, वह द्रव्य के स्वभाव आलम्बन द्वारा अंतर स्वरूप स्थिरता में वृद्धि करता जाता है; परंतु जब तक अपूर्ण दशा है, पुरुषार्थ मंद है, पूर्ण रूप से शुद्ध स्वरूप में स्थिर नहीं हो सकता तब तक वह शुभ परिणाम में संयुक्त होता है परन्तु वह उन्हें आदरणीय नहीं मानता है।

२४. कर्मादि, असमाधि, अस्थिति : तीन भाव

गाथा-३२

कर्मादि कर्म करतानि, असमाधि मिथ्या मयं जुतं ।

अस्थिति असुद्ध परिनामं, त्रिभंगी संसार कारनं ॥

अन्वयार्थ-(कर्मादि कर्म करतानि) कर्मादि कर्म का मैं कर्ता हूँ (असमाधि मिथ्या मयं जुतं) मिथ्यात्व में लीन रहना असमाधि है (अस्थिति असुद्ध परिनामं) अशुद्ध भाव अर्थात् शुभ-अशुभ परिणामों में लगे रहना अस्थिति है (त्रिभंगी संसार कारनं) यह तीनों ही भाव संसार भ्रमण के कारण हैं।

विशेषार्थ- जहाँ तक मन-वचन-काय की बुद्धि पूर्वक शुभ या अशुभ क्रिया होती रहती है व उस क्रिया पर आसक्त भाव है, रुचिपूर्वक क्रिया का कर्तापना है, वहाँ तक संसार का प्रवाह चलता ही रहता है।

कर्मादि-ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, मोह राग द्वेषादि भाव कर्म, शरीरादि नो कर्म, यह मेरे हैं, मैं इनका कर्ता हूँ। यह अज्ञान भाव ही संसार कर्म बन्ध का कारण है। कर्म की उत्पत्ति और कर्म के क्षय में अपनी दृष्टि ही मुख्य कारण है। जीव और पुद्गल के संयोग से कर्म पैदा होते हैं। कर्म पुद्गल जड़ हैं, जिनका स्वभाव क्षय होने का है। यह तीनों ही कर्म उत्पन्न और नष्ट होने वाले हैं। कर्म प्रकृति के साथ जीव का एक क्षेत्रावगाह निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने के कारण मनुष्य मात्र में कर्म करने का वेग रहता है, वह क्षण मात्र भी कर्म किये बिना नहीं रहता। संसार में वह देखता है कि कर्म करने से ही वस्तु की प्राप्ति होती है परन्तु यह उसकी भूल है क्योंकि नाशवान कर्मों के द्वारा नाशवान वस्तुओं की ही प्राप्ति होती है, अविनाशी वस्तु की प्राप्ति नहीं होती। अपने अविनाशी स्वरूप की प्राप्ति तो कर्मों के संबंध विच्छेद होने पर ही होती है।

वास्तव में कर्म बन्धन कारक नहीं होते, मनुष्य की कामना से बंधन होता है। कामना की पूर्ति के लिए रागपूर्वक अपने लिए कर्म करने से ही मनुष्य कर्मों से बंध जाता है। जैसे-जैसे कामना बढ़ती है वैसे-वैसे वह पापों में प्रवृत्त होता जाता है। स्वयं का बोध रहते हुए, सम्पूर्ण कर्मों के करते हुए भी उनके साथ अपना संबंध है ही नहीं-ऐसा अनुभव करे तो उसके कर्मक्षय हो जाते हैं।

साधक को भाव, क्रिया, पर्याय रूप तीनों से ही सम्बन्ध विच्छेद करना होता है। इनसे सम्बन्ध विच्छेद तब ही होगा जब साधक अपने लिये कुछ नहीं करेगा, कुछ नहीं चाहेगा और अपना कुछ नहीं है ऐसा मानेगा।

असमाधि- शरीरादि वस्तुएँ जन्म से पहले भी हमारे साथ नहीं थीं और मरने के बाद भी नहीं रहेंगी तथा इस समय भी प्रतिक्षण हमसे संबंध विच्छेद हो रहा है। इन प्राप्त वस्तुओं का सदुपयोग करने का हमें अधिकार मात्र है, इन्हें हम अपना नहीं मान सकते। इन्हें अपना मानना ही वास्तव में बन्धन या असमाधि है।

अस्थिति-कर्म करने के लिए पर पदार्थ यथा-शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ, व्यक्ति, देश-काल आदि परिवर्तनशील वस्तुओं की सहायता लेना पड़ती है। पर की सहायता लेना परतन्मयता है, यही अस्थिति है जो शुभाशुभ भावों में उलझाती है। स्वरूप ज्यों का त्यों है, उसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता, इसलिए उसकी अनुभूति में पर कहे जाने वाले शरीरादि पदार्थों के सहयोग की लेशमात्र भी अपेक्षा आवश्यकता नहीं है। पर से माने हुए संबंध का त्याग होने से स्वरूप में स्वतः सिद्ध स्थिति का अनुभव हो जाता है।

कर्म करने से संसार में और कर्म न करने से आत्मस्वरूप में प्रवृत्ति नहीं होती है। ऐसा मानते हुए संसार से निवृत्त होकर एकान्त में ध्यान और समाधि लगाना भी कर्म करना ही है। एकान्त में ध्यान और समाधि लगाने से तत्त्व साक्षात्कार होगा इस प्रकार भविष्य में परमात्म तत्त्व की प्राप्ति करने का भाव भी कर्म का सूक्ष्म रूप है; कारण कि करने के आधार पर ही भविष्य में तत्त्व प्राप्ति की आशा होती है; किन्तु परमात्म तत्त्व

कर्म करने व न करने से अतीत है।

मोक्षमार्ग स्वानुभव रूप है जहाँ मन, वचन, काय तीनों का कार्य बन्द है, शरीर स्थिर है, वाणी का प्रचार नहीं होता है, मन के विचारों का प्रवाह भी बन्द है, जब आत्मा, आत्मा से ही आत्मा में स्थिर होता है, वह समाधिभाव है, इसे स्वानुभव कहते हैं। यहाँ रत्नत्रय की एकता है, अपने शुद्धात्म स्वभाव का श्रद्धान भी है, ज्ञान भी है तथा स्वरूप में स्थिरता रूप चारित्र भी है। इसी स्वानुभव से नवीन कर्मों का संवर होता है और पुरातन कर्म विशेष झड़ते हैं।

२५. हास्य, रति, आर्त : तीन भाव

गाथा-३३

हास्य राग त्रिधन्ते, रति मिथ्यात भावना।

आर्त रौद्र संजुक्तं, त्रिभंगी दल पस्यते ॥

अन्वयार्थ-(हास्य राग त्रिधन्ते) हास्य- हँसी मजाक या किसी विशेष परिस्थिति, कार्य-कारण से हँसना, इस हास्य भाव से राग बढ़ता है (रति मिथ्यात भावना) रति-प्रीतिभाव, विषयासक्ति, इसमें मिथ्यात्व भावना रहती है (आर्त रौद्र संजुक्तं) आर्त-रौद्रभाव में लीन रहना (त्रिभंगी दल पस्यते) इस तरह के यह तीन भाव देखे जाते हैं जो आस्रव के कारण हैं।

विशेषार्थ-हास्य से राग बढ़ता है, रति से मिथ्याभाव होते हैं, आर्तभाव से रौद्र भाव में लीनता होती है। यह तीनों भाव कर्मास्रव, संसार के कारण हैं।

हास्य, रति, अरति, नो कषाय के भेद हैं। हास्यभाव किसी परिस्थिति, घटना, व्यक्ति और कार्य के निमित्त से होता है।

जब किसी तरह का स्वार्थ सधता है तो खुशी होती है। किसी व्यक्ति को किसी कार्य में असमर्थ देखने से हँसी आती है, पर की निन्दा व अपनी प्रशंसा होने से राग भाव बढ़ता है, मन में बड़ी संतुष्टि होती है; यह सब हास्य भाव है।

व्यर्थ चर्चा करके मन को रंजायमान करना हास्य भाव है जिससे राग बढ़ता है और कर्मबन्ध होता है।

इन्द्रियों के विषयों में उत्सुकता को रति भाव कहते हैं। इससे स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, धन, धान्य, वस्त्रालंकार, मकानादि, भोजन, गाना बजाना, सुगन्धादि पाँचों इन्द्रियों के विषयों

की अनुकूलता में विशेष अनुराग होता है, स्वरूप की विस्मृति पूर्वक शरीर के राग में रत रहना मिथ्यात्व भाव है जो संसार का कारण है।

इष्ट पदार्थों के वियोग में दुःखी होना आर्तभाव है। इसमें जीव अनिष्ट संयोग से पीड़ित होता है, रोगादि होने पर संक्लेश परिणामी होता है, आगामी संयोग के लिए आतुर होकर घबराता है। स्वार्थ साधन के लिए बाधक कारणों को हटाने के लिए हिंसादि रौद्र परिणाम करता है।

मिथ्यादृष्टि को कभी सुख, कभी दुःख, कभी हास्यभाव रहता ही है। वह निरन्तर हास्य-रति-आर्तभाव में उलझा रहता है। इस तरह राग-द्वेष-मोह में फँसा हुआ अज्ञानी संसार में भ्रमण कराने वाले कर्म बाँध लेता है। नरक, तिर्यच आयु का बन्ध इन तीनों भाव से होता है। ज्ञानी हमेशा यह विचार करता है कि-जीव को सुख और दुःख पूर्व में किये हुए शुभाशुभ कर्मों से होता है इसलिए मैं सुख होने पर राग और दुःख होने पर द्वेष भाव क्यों करूँ ? इस तरह स्वरूप का विचार कर जो समभाव रखता है वह बुद्धिमान, पूर्व कर्मों की निर्जरा करता है तथा नवीन कर्मों का बन्ध भी नहीं करता।

वास्तव में कर्मास्रव बन्ध का स्वरूप यही है कि रागी जीव कर्मों को बाँधता है और राग रहित जीव कर्मों से छूट जाता है।

साधना के प्रारम्भ में साधक के अन्तःकरण में द्वन्द्व रहता है। सत्संग, स्वाध्याय, विचार आदि करने से वह परमात्म प्राप्ति को अपना ध्येय तो मान लेता है पर उसके अपने कहलाने वाले मन और इन्द्रियों आदि की रुचि स्वाभाविक ही भोग भोगने और संग्रह करने में रत रहती है।

इसलिए साधक कभी परमात्म तत्त्व को प्राप्त करना चाहता है और कभी भोग एवं संग्रह को। उसे जैसा संग मिलता है वैसे उसके भावों में परिवर्तन होता रहता है। इस तरह साधक के अन्तःकरण में द्वन्द्व-“भोग भोगूँ या साधना करूँ ?” चलता रहता है।

इस द्वन्द्व पर ही अहं भाव टिका हुआ है, इसी से राग-द्वेष होता है। हमें सांसारिक भोग और संग्रह में लगना ही नहीं है प्रत्युत एक मात्र परमात्म तत्त्व को ही प्राप्त करना है-ऐसा दृढ़ निश्चय होने पर द्वन्द्व नहीं रहता।

राग-द्वेष को मिटाने के लिए यह विचार करना चाहिए कि अपने न चाहने पर भी अनुकूलता और प्रतिकूलता आती ही है।

अनुकूलता-प्रतिकूलता तो प्रारब्ध के फलस्वरूप आती जाती रहती है फिर इसके आने अथवा जाने की चाहना ही क्यों करें? और इसे अच्छा-बुरा भी क्यों मानें? यह निर्णय करना ही राग-द्वेष को मिटाना है, यही साधक का प्रमुख कर्तव्य है।

आत्मसत्ता स्वतंत्र है, अपने में पर का कर्तृत्व-भोक्तृत्व है ही नहीं, इस विचार से भी राग-द्वेष मिट जाते हैं।

२६. स्त्री, पुरुष, नपुंसक : तीन भाव

गाथा-३४

स्त्रियं काम त्रिधंते, पुंसं मिथ्यात संजुतं ।

नपुंसक व्रत षंडस्य, त्रिभंगी दल तिष्ठते ॥

अन्वयार्थ-(स्त्रियं काम त्रिधंते) स्त्री संबंधी भावों के होने पर कामभाव की वृद्धि होती है (पुंसं मिथ्यात संजुतं) पुरुष वेद से मिथ्यात्व में लीनता होती है (नपुंसक व्रत षंडस्य) नपुंसक वेद के भाव में सभी व्रत संयम खण्डित हो जाता है (त्रिभंगी दल तिष्ठते) यह तीनों काम भाव विशेष कर्माश्रय और संसार बंधन के कारण हैं।

विशेषार्थ-जो जीव कामभाव में रत रहता है वह कभी स्त्री संबंधी भाव करके पुरुष से भोग की चाह करता है, कभी पुरुष संबंधी भाव करके स्त्री के साथ भोग करना चाहता है। यह कामभाव महान अनर्थकारी है। काम के वश होकर मिथ्यात्व का सेवन करना पड़ता है। नपुंसक वेद के भाव से सभी व्रत-संयम खण्डित हो जाते हैं। कामभाव एक बड़ा रोग है, इससे संसार की वृद्धि होती है, सदा ही दुःख मिलता है। जब तक जीव के मन में काम की आग जलती रहती है तब तक निरन्तर कर्मों का आस्रव हुआ करता है।

कामभाव से बुद्धि भ्रष्ट होती है, आत्मा का पतन होता है। कामभाव में रत जीव, वेश्यागमन करते हैं, परस्त्री सेवन करते हैं, कामकथा करते हैं, कामभाव बढ़ाने वाले नाटक देखते हैं; श्रृंगार रस के शास्त्र पढ़ते हैं। कामी जीव इन पाँच खोटी भावनाओं में वर्तित हैं-
१. काम से राग बढ़ाने वाली कथाएँ पढ़ना व सुनना २. काम के वश होकर मनोहर रूपों को देखने के लिए आतुर रहना व देखते फिरना ३. काम भोगों की चर्चा करना ४. पौष्टिक

कामोद्दीपक रसों को खाना ५. शरीरादि को श्रृंगार से सजाकर मनोहर रखना।

कामविकार से पीड़ित प्राणी पागल हो जाता है, तीव्र राग-द्वेष में फँस जाता है। मनोज्ञ स्त्री-पुरुष से मिलने को लालायित रहता है। नाना तरह के मायाजाल रचता है, मिथ्यात्व का सेवन करता है। लिये हुए व्रत, नियम, संयम भी खण्डित कर देता है, हित-अहित का उसे कोई विवेक नहीं रहता। कामभाव के कारण रावण राज्यभ्रष्ट होकर नरक गया। कामभाव से बचने के लिए वृद्ध व साधु सेवा, समय का सदुपयोग, सत्संग, शास्त्र-स्वाध्याय, सामायिक, आत्मचिंतन, एकांत सेवन करना चाहिए। कामभाव उद्दीपक निमित्तों से बचना चाहिए। जैसे-धी आग का निमित्त पाकर पिघल जाता है वैसे कामी का मन कामवर्द्धक स्त्री पुरुष के निमित्त से कामी हो जाता है।

दुश्चरित्र मनुष्य की दुर्गीति अवश्य होती है, चाहे वह कितना ही बड़ा आदमी या साधु महात्मा क्यों न हो।

दुराचारी के साथ रहने की अपेक्षा नरक में रहना अच्छा है। बुढ़ापा रूप का दुश्मन है। उत्कट आशा से धैर्य नष्ट होता है। मृत्यु प्राणों की ग्राहक है। निर्लज्ज को धर्म की चिन्ता नहीं रहती, क्रोध श्रीहीन कर देता है। नीच की सेवा से शील नष्ट होता है, कामुकता लज्जा की दुश्मन है और अकेला अभिमान इन सभी गुणों को नष्ट कर देता है।

द्रव्यलिंगी विषय सेवन छोड़कर, तपश्चरण करे तो भी वह असंयमी है। द्रव्यलिंगी को वैराग्य भी होता है परंतु अभ्यंतर दृष्टि राग, कषाय भाव में ही होती है। राग के तेरह भेद होते हैं-अनन्तानुबंधी आदि चार माया, अनन्तानुबंधी आदि चार लोभ, हास्य, रति, स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेद। जब तक राग का सद्भाव है तब तक यह भाव होते हैं।

चारित्र साधना में काम और क्रोध दुर्गुण घोर बाधक हैं। इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि, काम के आधार हैं; अतः इनका नियमन भी चारित्र की सम्पन्नता के लिए परमावश्यक है; अन्यथा ज्ञान और विज्ञान दोनों नष्ट हो जायेंगे।

जिसका मन किसी स्त्री पुरुष ने हर लिया हो, उसकी विद्या व्यर्थ है। उसे तपस्या, त्याग और शास्त्राभ्यास से भी कोई लाभ नहीं है तथा उसका एकांत सेवन और मौन भी निष्फल है।

२७. मनुष्यनी, तिर्यचनी, देवांगना : तीन भाव

गाथा-३५

मनुष्यनी व्रत हीनस्य, तिर्यचनी असुह भावना ।

देवांगनी मिच्छ दिस्ती च, त्रिभंगी पतितं दलं ॥

अन्वयार्थ-(मनुष्यनी व्रत हीनस्य) जिसको ब्रह्मचर्य का कोई एकदेश व सर्वदेश व्रत नहीं है वह स्त्री के संबंध में काम भाव करता है (तिर्यचनी असुह भावना) काम भाव की अशुभ भावना से कभी किसी पशु को देखकर काम विकार करता है या पशुओं की कामक्रीड़ा देखकर आनंद मानता है (देवांगनी मिच्छ दिस्ती च) मिथ्यादृष्टि विषय सुख का रागी पुण्य के फल से देवांगना का भोग चाहता है (त्रिभंगी पतितं दलं) यह तीनों प्रकार की स्त्रियों के भाव दुर्गति में ले जाने वाले हैं।

विशेषार्थ-स्त्री, धर्म को विघ्न करने वाली है, मोक्षमार्ग में चलने से रोकने वाली है, दुःखों का कारण है व सुखों को नाश करने वाली है। काम विकार उत्पन्न करने में कारण स्त्रियों के तीन प्रकार यहाँ बताये गये हैं जिनमें रागभाव करने से कर्मास्रव होता है। रागी जीव कामभाव से निरंतर महिलाओं के रूप को देखता है, मोहित होकर उनके साथ हास्य, कौतूहल, वार्तालाप करता है। किसी तरह उनको वश में करके उनसे कामरति करता है, व्रतहीन, निर्गल होकर मनमानी करता है। व्रती सभी स्त्रियों को माता, भगिनी, पुत्री के समान देखता है। एक देश व्रती स्व-स्त्री के सिवाय अन्य स्त्रियों में विकार रहित बुद्धि रखता है। अब्रती मिथ्यात्वी को विवेक नहीं होता; वह कामभाव में फँसकर स्व-स्त्री, पर-स्त्री, वेश्या, कन्या आदि का भेद न करके उनसे राग बढ़ा लेता है।

तिर्यचनी पशु के शरीरों को देखकर भी कामी के मन में कामविकार उत्पन्न हो जाता है; कोई-कोई निन्दित मानव कभी काम चेष्टा भी कर लेता है। इसी तरह मिथ्यात्वी काम भोग का आतुर स्वर्गादि में देवियों का रूप-लावण्य, हावभाव, विलास, विक्रिया सुनकर यह लालसा मन में बाँध लेता है कि मैं देवगति में पैदा होकर मनोहर रूपवान देवियों के साथ क्रीड़ा करूँ। वह देवी देवताओं के रागभाव की कथा सुनकर उसमें रस लेता है, अनुमोदना करता है।

इस तरह तीन प्रकार चेतन स्त्रियों के निमित्त से मन में विकार का होना, वचनों से हास्यादि करना, शरीर से कुचेष्टा करना, पापबन्ध का कारण है। एकांत में स्वमाता, बहिन, पुत्री से भी सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए और न ही मिलना चाहिए। रागभाव से कर्मास्रव और बन्ध होता है।

प्रश्न-धर्म मार्ग पर चलने वाले साधु-साधक का इन काम भावों से क्या सम्बन्ध है?

समाधान-कामवासना मनुष्य की प्राथमिक भूमिका है क्योंकि मनुष्य का जन्म कामवासना से ही होता है। काम, कामवासना और कामना जीव की आंतरिक वृत्ति है। जब तक यह समूल नष्ट नहीं होती तब तक इनका अंकुरण-वृद्धि होती ही रहती है।

जो जीव काम, कामवासना और कामना का शमन करके, उसे समूल नष्ट करके धर्म मार्ग पर चलता है, वह अपने जीवन में श्रेष्ठता को उपलब्ध होता है। उसका ब्रह्मचर्य ही सच्चा है जो ब्रह्म स्वरूप को उपलब्ध कराता है।

जो जीव इनका दमन करके, धर्म मार्ग पर चलते हैं उनका जीवन बड़ा विषम और पतित हो जाता है क्योंकि दबी हुई वासनाएँ जहर हो जाती हैं। दबा हुआ चित्त बुरी तरह कामुक हो जाता है। साधु-साधक कोई भी हो जिसने काम, कामवासना और कामना को दबाया है उसको उपवास करते-करते, सामायिक करते, शास्त्र पढ़ते, अध्ययन-मनन, स्वाध्याय करते हुए भी काम भाव पेरता रहता है। कामवासना को जितना वह दबाता है, वासना उतना ही नया रूप धारण करती है और यह नये रूप विकृत होते चले जाते हैं।

वासना बड़ी गहरी है और उसकी गहराई को बिना समझे जो उसके साथ कुछ भी करने में लग जाता है, व्रत संयम आदि ले लेता है वह झंझट में पड़ जाता है। सभी सिद्धांत ऊपर रह जाते हैं, कामवासना गहरी पैठ रखती है। आप ऊपर से प्रभावित होते हैं, निर्णय और संकल्प ले सकते हैं, वे सभी निर्णय कागज के लेबिल की तरह ऊपर चिपके रह जाते हैं।

इसीलिए ज्ञानपूर्वक अपना अन्तर शोधन करना आवश्यक है तब ही कर्मास्रव से बचकर मुक्ति हो सकती है।

२ ८. कास्टचित्र, पाषाण चित्र, लेप चित्र : तीन भाव

गाथा-३६

कास्ट पाषाण दिस्टं च, लेपं दिस्टि अनुरागतः ।

पाप कर्म च त्रिधन्ति, त्रिभंगी असुहं दलं ॥

अन्वयार्थ-(कास्ट पाषाण दिस्टं च) काष्ठ और पाषाण की बनी स्त्रियों की मूर्ति देखना (लेपं दिस्टि अनुरागतः) तथा राग भाव से चित्रों को देखना (पापकर्म च त्रिधन्ति) यह सब पाप कर्म काम भाव को बढ़ाने वाले हैं (त्रिभंगी असुहं दलं) यह तीनों अशुभ भावों का समूह है।

विशेषार्थ- पूर्वगाथा में चेतन स्त्रियों के तीन भेद बताये हैं। इस गाथा में अचेतन स्त्री के तीन भेद बताये हैं। काष्ठ की स्त्री-मूर्ति, पाषाण की स्त्री-मूर्ति, चित्र में बनी स्त्री। स्त्रियों के श्रृंगारित आकार देखने से रागी पुरुषों के मन में राग भाव, काम भाव बढ़ता है जो पापकर्म की वृद्धि करता है, यह तीनों अशुभ भावों का समूह है।

जिस तरह चेतन स्त्री के शरीराश्रित जड़ बाह्य अंगों को देखकर भावों में विकार आ जाता है उसी तरह काष्ठ, पाषाण, लेप के जड़ पुद्गल आकारों को देखने से भी विकार हो सकता है; इसलिए ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए ऐसी रागभाव उत्पन्न करने में कारणभूत किसी भी काष्ठ-पाषाण की मूर्ति व चित्र को देखना नहीं चाहिए, न ही उनका निमित्त मिलाना चाहिए। अपने बैठने व शयन के स्थान में ऐसी कोई रागवर्धक स्त्री आदि की मूर्ति व चित्र नहीं रखना चाहिए। ऐसे खेल-तमाशे, सिनेमा, टी.वी. आदि नहीं देखना चाहिए जिनमें चित्रों के द्वारा कामभावों का प्रदर्शन दिखाया जाता हो क्योंकि परिणाम निमित्ताधीन होते हैं।

जब तक उच्च वीतराग दशा प्राप्त न हो तब तक आहार, विहार, निद्रा का आक्रमण है जो छटवें प्रमत्त विरत गुणस्थान तक सम्भव है, तब तक रागवर्धक मूर्ति व चित्रों के निमित्तों से बचना चाहिये।

अशुभ भाव उत्पन्न करने वाले चित्रों व मूर्तियों से कामभाव विकार उत्पन्न होना सम्भव है जिससे पापकर्म का बन्ध होता है; अतः आसन्न से बचने के लिए रागवर्धक मूर्ति व चित्रों का अवलोकन त्यागना चाहिये।

साधु अवस्था में गृह त्याग कर वन में एकान्तवास इसीलिए किया जाता है क्योंकि वहाँ राग-द्वेष वर्द्धक निमित्त नहीं हैं। बाह्य परिग्रह अंतरंग में मूर्च्छा उत्पन्न करने में कारणभूत हैं इसीलिए परिग्रह का त्याग, भावों में निर्ममत्व की उत्पत्ति का उपाय है। पाप भाव

पैदा होने में बाह्य पदार्थ निमित्त हो जाते हैं। आहार, भय, मैथुन, परिग्रह यह चार संज्ञायें बाहरी निमित्त संयोग से उत्पन्न हो जाती हैं। जैसे सुगंधित भोजन को देखकर आहार का भाव, भयप्रद सिंहादि के चित्रों को अथवा घटनाओं को देखने पर भय का भाव, कामभाव उत्पादक स्त्री पुरुष व काष्ठ-पाषाण-चित्र आदि देखने से मैथुन भाव, सुन्दर मकान, धन, वैभव देखने से परिग्रह में मूर्च्छा भाव उत्पन्न हो जाता है; अतएव भावों में रागभाव की उत्पत्ति का कारण बाह्य पदार्थों का निमित्त-संयोग होता है, ऐसा जानकर इनसे बचना चाहिए तभी कर्मास्रव से बच सकते हैं।

सम्यक्दृष्टि जीव की दृष्टि स्वभाव पर होने से वह पुद्गल शरीरादि पर्याय से दृष्टि हटाकर मोक्ष चला जाता है तथा मिथ्यादृष्टि जीव पर से, पुण्य से लाभ मानता है, शरीरादि पर्याय में रत होने से पाप परिणाम कर संसार दुर्गति में चला जाता है।

२९. रूप, अरूप, लावण्य : तीन भाव

गाथा-३७

रूपं अरूप लावण्यं, दिस्टितं असुह भावना ।

ते नरा दुष्य साहन्ति, त्रिभंगी दल मोहिनं ॥

अन्वयार्थ-(रूपं अरूप लावण्यं) सुरूप, कुरूप, लावण्य को (दिस्टितं असुह भावना) देखने से अशुभ भावना होती है (ते नरा दुष्य साहन्ति) जो मानव ऐसे सुरूप, कुरूप व लावण्य, सुन्दरता को देखने में उपयोग जोड़ते हैं, वे पाप बाँधकर दुःख सहते हैं (त्रिभंगी दल मोहिनं) यह तीनों भाव मूर्च्छित मोहित करने वाले हैं।

विशेषार्थ- आँखों में बहुत शक्ति होती है, उस शक्ति का दुरुपयोग करना ही पाप और सदुपयोग करना ही पुण्य है। संसारी स्त्री, पुरुषों के रूप, कुरूप, सुन्दरता को रागभाव से देखना ही पाप है। सद्गुणों का स्वाध्याय करना, पढ़ना, सत्पुरुषों का सत्संग, दर्शन करना, अहिंसा की भावना से देखकर चलना पुण्यबन्ध का कारण है। जगत के स्त्री-पुरुषों के रूप-लावण्य को कामभाव से देखने वाला किसी को तनिक भी नहीं सुहाता। वह अशुभ भावों में रत रहता, दुःख सहता हुआ नरक में जाता है।

मनोज्ञ व इष्ट वस्तु में राग, अनिष्ट-अमनोज्ञ वस्तुओं में द्वेषभाव होता है। सुन्दर स्त्री पुरुषों को देखकर मोहित होना कर्मास्रव पापबन्ध का कारण है। लावण्य रूप देखकर मोही जीव उन्मत्त होकर अनेक प्रकार से कुचेष्टा करता है। किसी स्त्री की सुन्दरता पर मोहित

होकर उसकी प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार के मायाचार रचता है और प्राप्ति न होने पर शोक करता है।

जब तक सभी इन्द्रियों का संतुलित एवं संतोषजनक संयम न हो तब तक काम संयम नहीं रखा जा सकता; क्योंकि सभी इन्द्रियाँ अन्योन्याश्रित हैं। मन से विकृत मनुष्य ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता क्योंकि वासनाओं एवं विकारों का मन में उदय होने पर काम संयम अत्यंत कठिन हो जाता है।

जिस मनुष्य के हृदय पर परकीय नारी के नयनबाण नहीं लगते, जो क्रोध रूपी अन्धकार से भरी रात्रि में जागता रहता है तथा जिसके गले में लोभ की रस्सी नहीं बंधी है वही सच्चा साधक महात्मा है।

दुश्चरित्र से विरत न होने वाला, मन और इन्द्रियों को संयम में न रखने वाला, चित्त की स्थिरता का अभ्यास न करने वाला एवं विक्षिप्त मन वाला केवल बुद्धिबल से आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता। कदाचार, भ्रष्टाचार, अनैतिकता को समाप्त किये बिना न तो लौकिक अभ्युदय हो सकता है और न ही पारमार्थिक कल्याण। शुद्ध चित्त योगी जिसका दर्शन करते हैं वह ज्योतिर्मय शुद्ध आत्मा ही अपना सत्स्वरूप है। जिसका निरन्तर सत्य, तपस्या, सम्यग्ज्ञान एवं ब्रह्मचर्य द्वारा लाभ होता है।

क्रिया तो वर्ण और भूमिका के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। जो पापपना, तीक्ष्णपना, मलिनता, पतन करने की बात है, वह कामना के कारण होती है। घोर तपस्या या गहरी पूजा पाठ अथवा जप-ध्यान करने वाले किन्तु चारित्रहीन लोगों की क्या गति होती है? इसके अनेक दृष्टांत धर्मग्रंथों में मिलते हैं। रूप, अरूप, लावण्य यह तीनों भाव, कामभाव से सम्बन्धित होने से घोर पतन के कारण हैं, इनसे पापास्रव होता है।

३०. माया, मोह, ममत्व : तीन भाव

गाथा-३८

माया मोह ममत्तस्य, प्रमानं असुह चिंतनं ।

ममतं मिथ्या संजुतं, त्रिभंगी नरयं पतं ॥

अन्वयार्थ-(माया मोह ममत्तस्य) संसार की माया में मोह-ममत्व करने से (प्रमानं असुह चिंतनं) बुद्धिपूर्वक अशुभ चिंतन करने से चिंता और भय होता है (ममतं मिथ्या संजुतं) ममत्व

भाव से मिथ्यात्व में लीनता होती है (त्रिभंगी नरयं पतं) यह तीनों भाव नरक में पतन के कारण हैं।

विशेषार्थ- संसार की क्षणभंगुर स्वप्न सम अवस्थाओं को माया कहा गया है। माया के तीन रूप होते हैं-कंचन, कामिनी, कीर्ति-इनमें मोह करना, अपना मानना, स्नेह करना आदि से अशुभ चिंतन होता है, जिससे भय और चिन्ता पैदा होती है। ममत्व भाव मिथ्यात्व में लीन करता है, जिससे जीव नरक का पात्र बनता है।

यह जीवन तो बिजली की चमक के समान क्षणभंगुर है। कुटुम्बादि का संयोग स्वप्न के समान है। जगत के प्राणियों के साथ स्नेह सन्ध्या की लालिमा के समान है और तृण पर पड़ी हुई बूँद के समान शरीर का क्षणभर में पतन हो जाता है। इन्द्रियों के भोग इन्द्रधनुष के समान देखते-देखते नष्ट हो जाते हैं, मेघों के विघटन के समान लक्ष्मी विला जाती है। पानी में खींची हुई रेखा के समान जवानी मिट जाती है अर्थात् जगत की सभी पर्यायें क्षणभंगुर नाशवान हैं।

इस माया में मोह-ममत्व होने से अशुभ चिन्तन और मिथ्यात्व में लीनता होती है जिससे जीव पाँचों पापों में फँस जाता है, रौद्रध्यानी हो जाता है। इष्ट वस्तु के वियोग तथा अनिष्ट संयोग में दुःखी मन होकर आर्तध्यान कर लेता है जिससे नरक आयु बाँधकर नरकगति में चला जाता है।

इन्द्रियों के विषयों में आसक्त जीव ही घोर पाप करते हैं। स्त्री के पीछे बड़े-बड़े युद्ध छिड़ जाते हैं। धन के पीछे अनेक प्रपंच रचाकर दूसरों को ठग लेते हैं। जीव इस सांसारिक माया-मोह में फँसकर अपना आत्मघात करता है।

कंचन, कामिनी, कीर्ति, माया का घेरा है। पुत्र, परिवार मोह का घेरा है। धन, वैभव, विषयासक्ति ममत्व का फैलाव है। जब तक अपनत्वपना, कर्तापना, अहंकार और चाह है तब तक तनाव, अशांति नहीं मिट सकती। आवश्यकता से आकुलता होती है, समस्या से विकल्प होते हैं, जिम्मेदारी से चिंता होती है।

एक तरफ माया-कंचन, कामिनी, कीर्ति का चक्कर है, इन्द्रिय विषय भोग मन की चाह है। इनमें ममत्व भाव होने से आकुलता-व्याकुलता, भय, चिन्ता, दुःख है, जन्म-मरण संसार है। दूसरी तरफ मुक्ति-आत्मानुभूति, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र्य से साधु पद और अरिहन्त सिद्ध पद की प्राप्ति होती है। इस ओर का रुचि पूर्वक पुरुषार्थ करने

से अतीन्द्रिय आनन्द, जन्म-मरण से छुटकारा, भय-चिन्ता, दुःखों से मुक्ति, तीन लोक में जय-जयकार, परमानन्द परमात्मपद की प्राप्ति होती है। अब किस ओर जाना है? यह निर्णय कर लो, जिस तरफ की रुचि होगी उधर का वैसा फल मिलेगा, दोनों में अत्यंत विरोध है।

आत्मानुभूति से अतीन्द्रिय आनन्द अनुभव में आता है। आत्मानन्द का प्रभाव बुद्धि को सुखमय स्वस्थ एवं संतुष्ट कर देता है।

साधक को आत्मध्यान का अभ्यास करने से मोह से मुक्ति मिलती है। माया का चक्कर छूट जाता है। ध्यानजनित आनन्द की अनुभूति होने पर व्यक्ति को भौतिक जगत में कुटिलता, घृणा, स्वार्थ, परिग्रह, विषय भोग आदि नीरस एवं निरर्थक प्रतीत होने लगते हैं।

३९. कषाय, राग, मिश्र : तीन भाव

गाथा-३९

अनन्तानु कषायं च, रागादि मिश्र भावना।

दुष्य कर्म त्रिधन्ते तत्र, त्रिभंगी दुर्गति कारनं ॥

अन्वयार्थ-(अनन्तानु कषायं च) अनन्तानुबंधी कषाय और (रागादि मिश्र भावना) रागादि सहित मिश्र भावना (दुष्य कर्म त्रिधन्ते तत्र) जहाँ यह कषाय राग और मिश्र भाव होते हैं वहाँ दुःख रूप कर्मों की वृद्धि होती है अर्थात् पापकर्म का बन्ध होता है (त्रिभंगी दुर्गति कारनं) यह तीनों भाव दुर्गति के कारण हैं।

विशेषार्थ-अशुद्ध परिणामों से बन्ध होता है, वे परिणाम राग-द्वेष-मोह हैं। उनमें से मोह और द्वेष तो अशुभ भाव हैं। राग भाव शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार का होता है। संसार के प्रति रुचि होना मोह भाव है, यह अशुभ भाव है। क्रोध, मान व अरति, भय, शोक, जुगुप्सा के उदय से पर में द्वेषभाव होता है, यह भी अशुभ भाव है। द्वेष से परिणाम संक्लेश रूप रहते हैं, मोह से मलिन रहते हैं। मोह और द्वेष तो पाप बन्ध के ही कारण हैं।

लोभ, माया कषाय तथा हास्य, रति, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसक वेद के उदय से रागभाव होता है। यह रागभाव जब विषय-कषायों की पुष्टि के लिये होता है तब वह अशुभ राग है और पाप बन्ध का कारण है। जब कषायों का मन्द उदय होता है तब पंच परमेष्ठी की भक्ति, पूजा-दान, परोपकार, जप, स्वाध्याय, संयम आदि शुभ कार्यों को करने की आकांक्षा होती है, इसे शुभ रागभाव कहते हैं इससे पुण्य का बन्ध होता है। शुभ भाव, अशुभभाव दोनों ही बन्ध के

कारण हैं। यही राग-द्वेष-मोह भाव जब अनन्तानुबंधी कषाय के उदय सहित होते हैं तब उनको मिश्र भाव कहते हैं। साधारण रूप से मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी मिश्र भावों में फँसा रहता है।

अशुभ राग, आकुलता और विकल्प पैदा करता है। शुभराग संसार की वृद्धि करता है, जीव को बेसुध करता है। जहाँ जिससे जितना राग होगा वहाँ उतना ही द्वेष भाव किसी न किसी से होगा।

रागभाव- अहंकार, चाह और विकल्प पैदा करता है। द्वेषभाव- क्रोध, ईर्ष्या विरोध पैदा करता है। मोहभाव- भय, शंका, चिन्ता पैदा करता है। मोह के सद्भाव में जीव मूर्च्छित रहता है।

राग के सद्भाव में मदहोश, पागल रहता है। द्वेष के सद्भाव में अन्धा रहता है। पाप के सद्भाव में भयभीत रहता है। यह तीनों भाव कषाय, राग और मिश्रभाव दुःख, दुर्गति और संसार के कारण हैं।

प्रश्न-अनन्तानुबंधी कषाय तो मिथ्यादृष्टि को होती है फिर यहाँ साधक को अनन्तानुबंधी कषाय सहित राग और मिश्रभाव होने का क्या प्रयोजन है ?

समाधान-मिथ्यादृष्टि को अनन्तानुबंधी कषाय मूल में है तथा इसके साथ ही अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन का भी उदय है। उसे छहों लेश्या का सद्भाव है इसलिए मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी साधु नवमे ग्रेवैयक तक चला जाता है।

साधक को उपशम सम्यक्त्व में अनन्तानुबंधी का भी उदय आता है। उस दशा में रागादि मिश्र भाव सहित कर्माश्रय होता है। यहाँ इसी अभिप्राय से सावधान किया है कि कोई साधक ज्ञानी होकर यह न मान ले कि मुझे कर्माश्रय-बन्ध होता ही नहीं है।

जब तक इन भावों में बहाव है तब तक कर्माश्रय बन्ध होता है। यदि यह ज्ञान नहीं है तो वह सम्यक्दृष्टि ज्ञानी ही नहीं है।

जो आत्मा राग-द्वेषादि सभी दोषों को छोड़कर अपने आत्मा के स्वभाव में लीन होता है वही संसार सागर से तरता है, यही धर्म है। ज्ञान स्वभाव में उपयोग लगाकर स्वभाव सन्मुख रहना बड़े ही विवेक पुरुषार्थ की बात है, जो साधुपद प्राप्त होने पर ही हो सकता है; किन्तु ऐसा उपयोग न लगने पर भाव-विभाव, क्रिया, कर्म होते हैं जिनका जिम्मेदार, कर्ता, भोक्ता स्वयं है तथा इससे ही कर्मबन्ध होता है।

ज्ञानी को भगवान आत्मा आनंद स्वरूप और राग आकुलता स्वरूप दोनों भिन्न प्रतीत होते हैं। त्रिकाली नित्यानंद चैतन्य प्रभु पर दृष्टि पड़ते ही जो ज्ञान होता है वह चैतन्य व राग को अत्यंत भिन्न जानता है।

जिसे तत्त्व दृष्टि की प्राप्ति हुई है वही सम्यक्ज्ञानी है। जिसे तत्त्वदृष्टि प्राप्त नहीं है उसमें चैतन्य व राग को भिन्न जानने की क्षमता भी नहीं है।

३२. कारन, कार्य, दुचित्त : तीन भाव

गाथा-४०

कारनं मिथ्या मयं प्रोक्तं, कार्यं दुर्गति बन्धनं ।

दुचित्तं अत्रितं वन्दे, त्रिभंगी नरय स्तितं ॥

अन्वयार्थ-(कारनं मिथ्या मयं प्रोक्तं) मिथ्यादर्शन सहित परिणाम संसार का कारण कहा गया है (कार्यं दुर्गति बन्धनं) उसका कार्य दुर्गति का बन्ध है (दुचित्तं अत्रितं वन्दे) जो नाशवान पदार्थ अथवा क्रुदेव कुगुरु आदि की वन्दना भक्ति करता है उसका दुचित्त अर्थात् वह हमेशा चिन्तित रहता है (त्रिभंगी नरय स्तितं) यह तीनों भाव नरक में ले जाने वाले हैं।

विशेषार्थ-जैसा कारण होता है वैसा कार्य होता है तथा जैसा कार्य होता है वैसा चित्त (चिन्तन) होता है।

मिथ्यात्व के तीन भेद हैं- १. तत्त्व में अरुचि, २. अतत्त्व अभिनिवेश और, ३. तत्त्व में संशय। साधक की प्रारंभिक अवस्था में बाधक कारण- १. स्वयं की आन्तरिक दुर्बलता, २. भोगासक्ति आलस्य (प्रमाद) और ३. शरीर-इन्द्रिय आदि में सुख बुद्धि है।

साधक प्रथम भूमिका में शरीरादि को तो अपने से भिन्न मान लेता है किन्तु शरीर और इन्द्रियों द्वारा होने वाली खाना, पीना, सोना, सुनना, बोलना, करना आदि क्रियाओं को तथा मन से होने वाले चिन्तन और बुद्धि से होने वाले निश्चय को अपनी क्रिया मानता रहता है। इधर ध्यान ही नहीं देता कि जब शरीरादि सब भिन्न हैं तो फिर होने वाली क्रियायें भी तो भिन्न हैं, स्वयं में कहाँ हैं? यह मिथ्यादर्शन सहित परिणाम संसार का कारण कहा गया है।

“शरीर मैं हूँ” ऐसा संबंध जोड़ने पर शरीरादि के नाश का भय अपने ही नाश का भय हो जाता है। “शरीर मेरा है” ऐसा मानने पर शरीर के लिए खाद्य एवं परिधाय वस्तुओं की आवश्यकता अपने लिये ही प्रतीत होने लगती है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के कार्य में लगना दुर्गति का बन्धन है।

साधकों से प्रायः यह बड़ी भूल होती है कि सुनते, पढ़ते और विचार करते समय वे जिस बात को ठीक समझते हैं उस पर दृढ़ता से स्थिर नहीं रहते तथा उसे महत्व नहीं देते हैं। इससे चित्त अनेक संकल्प-विकल्प और चिन्ताओं में फँसा रहता है। ऊपर से कुछ करते हैं और अन्तरंग परिणति कुछ और ही चलती है। यह दुचित्त विषम परिस्थितियों में ढाँवाडोल हो जाता है, जिससे नाशवान, जड़ पदार्थ अथवा क्रुदेवादि की मान्यता करने लगता है।

जिस प्राणी, पदार्थ, घटना, क्रिया और परिस्थिति को अपने दुःख का हेतु या सुख में बाधक मानता है, उसके प्रति अन्तःकरण में दुर्भाव, असहिष्णुता और उसे नष्ट करने के भाव करता है, इस प्रकार के भाव नरक में ले जाते हैं।

अनुकूल या प्रतिकूल प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति और घटना आदि के संयोग वियोग में साधक के अन्तःकरण में हलचल का होना दुचित्त है और हलचल का न होना ही उसकी समचित्तता है। इस विषय में बहुत ही मार्मिक एवं समझने की बात यह है कि विनाशी एवं विकार वाली वस्तुओं का महत्व होने से साधक का चित्त ही विषम होता है, स्वरूप नहीं। वह तो सदैव एकरस रहता है उसमें कभी विषमता आ ही नहीं सकती।

साधक को चाहिए कि वह अपनी परिवर्तनशील दशा (पर्याय) में अपनी (स्वरूप की) स्थिति न माने और न देखे, अपितु अपने स्वरूप को ही देखे। वर्तमान स्थिति से लेकर निर्विकल्प स्थिति तक दशा अर्थात् अवस्था, पर्याय है जो कि परिवर्तनशील है। स्वरूप अवस्था नहीं अपितु अवस्था का प्रकाशक है।

जिसका कोई आदि न हो उसे अनादि कहा जाता है। जीव और अजीव दोनों अनादि होने से समान हैं किन्तु जीव, अजीव से विलक्षण है। जीव, चेतन ज्ञान स्वभावी परमात्म स्वरूप है और अजीव, अचेतन जड़ पुद्गल है।

जब तक जीव का अशुद्ध परिणमन है तब तक जीव का विभाव रूप परिणमन है। उस विभाव परिणमन का अन्तरंग निमित्त जीव की विभाव परिणमन रूप शक्ति है और बहिरंग निमित्त मोहनीय कर्म का उदय है।

मोहनीय कर्म दो प्रकार का है-दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। जीव का सम्यक्त्वगुण विभाव रूप होकर मिथ्यात्व रूप परिणमता है तथा एक चारित्र गुण है जो विभाव रूप होकर कषाय रूप परिणमता है। इस प्रकार जैसा कारण होता है वैसा कार्य होता है और वैसा ही चिन्तन चलता है।

संसार का परिणमन काल के अनुसार है। कार्य का होना तत्समय की योग्यतानुसार है। जीवों का परिणमन अपनी-अपनी पात्रतानुसार है ; इसलिए जो होना होता है वह होता ही है, जो नहीं होना होता वह नहीं ही होता है उस कार्य (क्रिया) सम्बंधी भाव-पर्याय चलने पर उसमें अपनत्व और लगाव होना ही अपने लिये विकल्प और विवाद का कारण है। चर्चा करना राग- द्वेष का कारण है। क्रिया होना कर्मबन्ध दुःख और दुर्गति का कारण है।

प्रश्न-जब साधक धर्म साधना में रत है तो उसको यह कर्मास्रव क्यों होता है ?

समाधान-जब तक विपरीत अभिप्राय रहित होकर सत्-असत् का भेदज्ञान नहीं है, तब तक जीव सम्यक्दृष्टि नहीं हो सकता। बाहर से शुभाचरण करना मात्र ही धर्म नहीं है। सत् का अभिप्राय-“ मैं जीव तत्त्व त्रिकाल शुद्ध चैतन्य स्वरूप हूँ। ” असत् का अभिप्राय-“ पर्याय में होने वाले विकार और पर पदार्थ सभी पर हैं। पर पदार्थ और आत्मा भिन्न होने से कोई पर का कुछ नहीं कर सकता। आत्मा की अपेक्षा से पर पदार्थ असत् हैं-नास्ति रूप हैं। ”

जब ऐसा यथार्थ स्वरूप समझते हैं तभी जीव को सत्-असत् के विशेष का यथार्थ ज्ञान होता है। जीव को जब तक ऐसा ज्ञान नहीं होता तब तक आस्रव दूर नहीं होते; और जब तक जीव अपना और आस्रव का भेद नहीं जानता तब तक उसके विकार दूर नहीं होते।

जगत के जीव आस्रव तत्त्व की अज्ञानता के कारण ऐसा मानते हैं कि “ पुण्य से धर्म होता है। ” कितने ही लोग शुभ योग को संवर मानते हैं तथा ऐसा मानते हैं कि अणुव्रत, महाव्रत मैत्री इत्यादि भावना और करुणा बुद्धि से धर्म होता है किन्तु यह मान्यता अज्ञानता पूर्ण है।

सम्यक्दृष्टि जीव के होने वाले व्रत, दया, दान, करुणा, मैत्री इत्यादि भावना भी शुभ आस्रव हैं इसलिए वे बन्ध के ही कारण हैं; तो फिर मिथ्यादृष्टि जीव के शुभभाव संवर, निर्जरा और धर्म के कारण कैसे हो सकते हैं ? अज्ञानी के शुभ भाव को परंपरा अनर्थ का कारण कहा है। अज्ञानी तो शुभ भाव को धर्म या धर्म का कारण मानता है और उसे वह भला जानता है ऐसा करके वह स्वयं अशुभ रूप परिणमता है। इस तरह अज्ञानी का शुभ भाव तो परम्परा पाप का कारण कहा है। ज्ञानी शुभ भाव को धर्म या धर्म का कारण नहीं मानते बल्कि उसे आस्रव जानकर दूर करना चाहते हैं क्योंकि शुद्ध भाव ही मुक्ति का कारण है। यह भूमिका

लक्ष्य में रखकर इस अध्याय के सूत्रों में आये हुए भाव समझने से वस्तु स्वरूप संबंधी भूल दूर हो जाती है।

33. आलाप, लोकरंजन, सोक : तीन भाव

गाथा-४९

आलापं असुहं वाक्यं, मिथ्या मय लोक रंजनं।

सोकं अत्रितं दिस्टा, त्रिभंगी नरयं पतं ॥

अन्वयार्थ-(आलापं असुहं वाक्यं) अशुभ वचनों को कहना आलाप है (मिथ्या मय लोक रंजनं) मिथ्या व मायाचार सहित कथन करके लोगों को प्रसन्न करना लोकरंजन है (सोकं अत्रितं दिस्टा) अहितकारी घटना, परिस्थिति को देखकर शोक होता है (त्रिभंगी नरयं पतं) यह तीन भाव नरक के पात्र बनाते हैं।

विशेषार्थ- व्यर्थ बोलना, अशुभ वचन बोलना, निष्प्रयोजन बोलना आलाप है। मिथ्या मायाचारी करना, विकथा आदि से लोगों को रंजायमान करना लोक रंजन है। पर की तरफ दृष्टि, नाशवान वस्तुओं को देखना, अहितकारी मानना, इष्ट-वियोग, अनिष्ट संयोग आदि से शोक होता है। यह तीनों भाव नरक आयु के बन्ध के कारण हैं।

श्रेष्ठजनों के द्वारा कर्त्तव्य की उपेक्षा, अपना दायित्व निभाने में प्रमाद तथा चारित्र्य स्खलन की छोटी सी भूल लोक समुदाय के पतन और विनाश के कारण बन जाते हैं। केवल अपने सुखोपभोग के लिये जीने वाला व्यक्ति पाप की जिन्दगी जीता है तथा निन्दनीय होता है।

काम, क्रोध, लोभ यह तीनों नरक के द्वार हैं। काम, क्रोध और मोह के आधीन होकर ही मनुष्य पापकर्म करके दुःख पाता है एवं संसार बन्धन में फँसता है। चारित्र्य और नैतिक मूल्यों की उपेक्षा, वाणी, बाहु और उदर को संयत न रखने के कारण होती है।

हिंसा, चोरी, कुशील यह तीन काया के निंद्य कर्म हैं। परनिंदा, कठोर, मर्मस्पर्शी वचन, झूठ और कलह मूलक भाषण, यह चार वचन निंद्य कर्म हैं। पर का बुरा विचारना, दूसरों का धनादि हरण करने की इच्छा और विपरीत मान्यता यह तीन मानसिक निंद्य कर्म हैं। जिनसे जीव नरक का पात्र बनता है।

क्रोध से प्रीति नष्ट होती है, अभिमान से विनयशीलता जाती रहती है। माया में पड़ा तो मित्रता नष्ट हुई और लोभ सब कुछ नष्ट कर देता है।

देह, प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धि इन उपाधियों में से जिस-जिस के साथ योगी की चित्त वृत्ति का संयोग होता है उसी-उसी भाव की प्राप्ति होती है।

जगत में अनेक कुगुरु, भक्तों के मन को प्रसन्न करने वाली कथाएँ कहकर, लोकरंजन करके उनसे धन संग्रह करते हैं और विषयादि में खर्च करते हैं। भक्तों को आत्मस्वरूप न बताकर उन्हें रागवर्द्धक, हिंसावर्द्धक क्रियाओं में लगा देते हैं। पुत्रलाभ व धनलाभ होने का लोभ देते हैं, जिससे प्राणी अधर्म को धर्म मान लेते हैं। ऐसे आलापों से स्व-पर को कुमार्ग में डालने वाले जीव नरकायु बाँधकर दुर्गति के पात्र बन जाते हैं।

शोक के अनेक कारण होते हैं। जब कभी मिथ्या व मायाचार से लोगों को रंजायमान करते हुए इष्ट का लाभ नहीं होता अथवा अनिष्ट का संयोग हो जाता है, इच्छित वस्तु की चिन्ता करते हुए भी वह नहीं मिलती तब भारी शोक होता है। इष्ट वियोग में अज्ञानी को महादुःख होता है। वह शोकार्त होकर आत्मघात कर लेता है जिससे नरक गति में जाता है।

जिसे सचमुच भव-भ्रमण से छूटना हो, उसे स्व को, पर द्रव्य से भिन्न पदार्थ निश्चित करके अपने ध्रुव ज्ञायक स्वभाव की महिमा अंतरंग में अनुभव करके सम्यग्दर्शन प्रगट करने का प्रयास करना चाहिए।

३४. रसना, स्पर्शन, घ्राण : तीन भाव

गाथा-४२

रसनं स्पर्शनं भावं, घ्राणं घ्राण संजुतं ।

असुहं कर्म संप्रोक्तं, त्रिभंगी दल पस्यते ॥

अन्वयार्थ-(रसनं स्पर्शनं भावं) रसना इन्द्रिय व स्पर्शन इन्द्रिय का भाव (घ्राणं घ्राण संजुतं) नासिका इन्द्रिय से सूँघने के भाव में जुड़ना (असुहं कर्म संप्रोक्तं) अशुभ कर्म कहा गया है (त्रिभंगी दल पस्यते) यह तीन भाव आस्रव के कारण जानना चाहिए।

विशेषार्थ- बुद्धिमान मनुष्यों को यह स्मरण रखना चाहिए कि आत्मा को इस विशिष्ट मानव योनि की प्राप्ति करोड़ों वर्षों तक देहान्तर करने के बाद हुई है। यह प्राकृत जगत जैसे कि एक बड़ा समुद्र है और भवसागर में मानव योनि एक नौका के समान है। जिसकी रचना इस सागर को पार करने के लिए हुई है। धर्मशास्त्र और सद्गुरु कुशल नाविक हैं और मानव देह तथा प्राप्त सुविधायें अनुकूल वायु हैं जो सही दिशा में ले जा सकती हैं। यदि इन सुविधाओं के रहते भी कोई

मनुष्य अपनी मानव योनि का सदुपयोग-स्वरूप साक्षात्कार, आत्मदर्शन के लिये नहीं करता तो उसे आत्महन्ता समझना चाहिए।

इस मानव शरीर की विशेषता उसकी पाँच इन्द्रियाँ और मन है। प्रत्येक मनुष्य में एक तो इन्द्रियों का ज्ञान होता है और एक बुद्धि का ज्ञान। इन्द्रियाँ और बुद्धि दोनों के बीच मन का निवास है। इन्द्रियों के ज्ञान में संयोग का प्रभाव पड़ता है और बुद्धि के ज्ञान में परिणाम का। जिनके मन पर इन्द्रिय ज्ञान का प्रभाव है वह सुख भोग में लगे रहते हैं। जिनके मन पर बुद्धि ज्ञान का प्रभाव है वे परिणाम की ओर दृष्टि रहने से सुख भोग का त्याग करने में समर्थ हो जाते हैं। एक-एक इन्द्रिय की विषय वासना से जीव को अपने प्राण गँवाना पड़ते हैं। स्पर्शन इन्द्रिय के वशीभूत हाथी, रसना इन्द्रिय के वशीभूत मछली, घ्राण इन्द्रिय के वशीभूत भौंरा, चक्षु इन्द्रिय के वशीभूत पतंगा, कर्ण इन्द्रिय के वशीभूत हिरण अपने प्राण गंवाता है फिर जो जीव पाँचों इन्द्रियों के विषय भोग में लगा हो उसकी क्या दुर्दशा होगी ?

मनुष्य को रसना इन्द्रिय की विशेषता प्राप्त है, इसके दो कार्य हैं-खाना और बोलना। रसना इन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों रूप काम करती है। खाने से शेष इन्द्रियाँ सक्रिय होती हैं। खाने के लिए पाप-परिग्रह, क्रिया-कर्म करना पड़ते हैं। बोलने से संसार एवं पर जीवों से सम्बंध जुड़ता है जिससे राग-द्वेष रूप कर्मबन्ध होता है।

स्पर्शन इन्द्रिय की वासना संसार का मूल है। काम भाव से स्त्री-पुरुष, परिवार का सम्बन्ध होता है। स्पर्शन इन्द्रिय की विषय पूर्ति पराधीन बनाती है। इसके पीछे हिंसादि पाप होते हैं जो संसार परिभ्रमण का कारण है।

घ्राण इन्द्रिय के विषयाधीन हित-अहित, हेय-उपादेय का विवेक नहीं रहता। इन तीनों इन्द्रियों के भाव से निरन्तर कर्मास्रव अशुभ कर्म का बन्ध होता है।

वास्तव में प्रत्येक प्राणी, स्वरूप से इन्द्रियातीत असंग ही है। शरीरादि पर वस्तु में अपनत्व मानकर सुख की इच्छा से उनमें आबद्ध हो जाता है। मन में चाह पैदा होने लगती है, यह होना, वह नहीं होना, इससे राग-द्वेष पैदा होने लगते हैं। इन भावों के होने से संसार राग बढ़ता है।

कामनाओं की उत्पत्ति संकल्प से होती है। उत्पत्ति-विनाश वस्तुओं की स्मृति, स्फुरणा कहलाती है। जिसकी स्मृति आई, उस वस्तु में सत्ता और प्रियता होना संकल्प है। ऐसा होना चाहिए ऐसा नहीं होना चाहिए, यह कामना है इससे कर्म बन्ध रूप संसार

घर, परिवार, समाज सम्बन्धी कर्मों से न्यारे होने पर निराकुलता होती है। पुण्य-पापादि क्रिया से न्यारे होने पर निर्भयता होती है। शुभाशुभ भावों से न्यारे होने पर निश्चिन्तता होती है। शरीरादि अशुद्ध पर्याय से न्यारे होने पर निर्विकल्पता होती है, तब ही आत्मस्वरूप की निजानन्द, निर्द्वन्द्वता, मस्ती आती है।

इन्द्रियों के विषयों की चाह ही संसार में भ्रमण का कारण है। इन्द्रिय भोगों से कभी किसी को तृप्ति नहीं होती। मानव जीवन आत्मकल्याण के लिये मिला है अतः इन्द्रियों का निरोध आवश्यक है। साधक को पूर्ण इन्द्रिय विजयी होना चाहिए।

३५. चष्यु, झोत्र, उछाह : तीन भाव

गाथा-४३

चष्युं अत्रितं दिस्टा, श्रुतं विकह रागयं ।

उछाह मिच्छ मयं प्रोक्तं, त्रिविधं त्रिभंगी दलं ॥

अन्वयार्थ-(चष्युं अत्रितं दिस्टा) आँखों से जो दिखाई देता है अर्थात् पौद्गलिक जगत क्षणभंगुर, नाशवान है, इसको देखना, देखकर राग करना बन्धन है (श्रुतं विकह रागयं) कानों से विकथाओं को सुनकर राग करना (उछाह मिच्छ मयं प्रोक्तं) मिथ्यात्व में संलग्न रहना मिथ्या उत्साह कहा गया है (त्रिविधं त्रिभंगी दलं) इस तरह तीनों प्रकार से त्रिभंगी दल में फँसता है।

विशेषार्थ-चक्षु से अनेक प्रकार के पदार्थों को देखकर राग भाव होता है। आँखों से जो भी दिखाई देता है वह सब पौद्गलिक जगत क्षणभंगुर नाशवान है; परंतु रागी मिथ्यादृष्टि जीव सुन्दर शरीर के रूप को, आभूषणों, वस्त्रों, मकान, नगर, खेल तमाशे को देखकर राग भाव बढ़ाता है। चक्षु इन्द्रिय दूर से ही देखकर विषय का भोग करती है।

कर्ण इन्द्रिय से अनेक प्रकार की विकथायें, सुरीले राग वर्द्धक गाने, हास्यपूर्ण वार्तालाप आदि को सुनकर राग करता है। मान-अपमान, अशुभ शब्द सुनकर द्वेष करता है। कर्ण इन्द्रिय भी दूर से शब्दों को सुनकर विषय भोग करती है; जबकि स्पर्शन, रसना और घ्राण इन्द्रियाँ पदार्थ से मिलने पर विषयभोग करती हैं। इन विषय भोगों की चाह लगन

और इनमें उत्साह होना, यह सब मिथ्यात्व कहा गया है। जो जीव इनमें रत रहता है वह कर्मों का बन्ध करके संसार का पात्र बनता है। कर्तृत्व-भोक्तृत्व ही संसार है। जो जीव अपनी समझ, सामग्री, समय, सामर्थ्य, परवस्तु शरीरादि के विषय भोग में लगाता है, उसमें उत्साहित रहता है वह संसार में परिभ्रमण करता है।

यदि साधक का यह दुःख निश्चय हो जाये कि मुझे एक मात्र परमात्म पद प्राप्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं करना है तो वह वर्तमान में ही मुक्त हो सकता है; परन्तु यदि वस्तुओं के सुख भोग और जीने की इच्छा रहेगी तो इच्छा कभी पूरी नहीं हो सकती तथा मृत्यु के भय और क्रोध से भी छुटकारा नहीं मिलेगा; अतः मुक्त होने के लिए इच्छा रहित होना आवश्यक है।

जो संसार मात्र का कारण है, उस कर्म प्रकृति के द्वारा सभी क्रियायें होती हैं परंतु जब उन क्रियाओं के साथ अपना संबंध मान लेने से अपने में कर्तृत्व आ जाता है यही अज्ञान और अविवेक है। ज्ञान तब होता है जब कर्म प्रकृति के द्वारा होने वाली क्रियाओं के साथ अपना किंचित् मात्र भी सम्बन्ध न रखकर अपने स्वरूप में स्थित हो जायें।

वे पुरुष श्रेष्ठ हैं जो परनिन्दा के समय गुँगे, पर स्त्री दर्शन के समय अन्धे और दूसरों के रहस्य की बातें सुनते समय बहरे बन जाते हैं। जो दूसरों का उपहास न उड़ाये, निन्दा न करे, नीचा न दिखाये, झूठी बातें न बोले और दूसरों पर आक्षेप न लगाए वही श्रेष्ठ, कुलीन है।

संसार, शरीर, विषयादि की चाह प्राण लेती है, भयभीत रखती है, परिभ्रमण कराती है। नाम, यश, प्रभावना, प्रसिद्धि की चाह मदहोश करती है, पराधीन बनाती है। चाह यदि खत्म हो जाये तो कोई भय-चिंता, संकल्प-विकल्प, राग-द्वेष नहीं रहते।

आकांक्षा का नाम वेद्य भाव है। आकांक्षा को भोगने वाला भाव वेदक भाव कहा गया है। जब वेद्य भाव होता है तब वेदक भाव की उत्पत्ति नहीं होती और जब वेदक भाव होता है तब तक वेद्य भाव समाप्त हो जाता है। संसारी जन वस्तुतः अपने में राग-द्वेष भाव ही करते हैं और वह जिन पदार्थों का अवलम्बन लेकर करते हैं उन पदार्थों का भोक्ता अपने को मानते हैं, यह सत्य नहीं है।

प्रत्येक पदार्थ तो अपनी सत्ता में अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में रहता है।

उसका एक देशांश या गुणांश भी जीव अपनी सत्ता में मिला नहीं सकता अतः उन्हें भोगता नहीं है। वह तो अपने रागभाव को ही भोगता है। वह पदार्थ का ज्ञाता हो सकता है किन्तु ज्ञाता होने पर और उनके प्रति रागी होने पर भी वह उन पदार्थों से त्रिकाल भिन्न है; फिर वह उनका भोक्ता कैसे हो सकता है? यह मिथ्या कल्पना ही अज्ञानी को संसार में भटकती है, इसी कारण वह शरीरादि इन्द्रिय विषयों के लिये दौड़ा-दौड़ा फिरता है।

सम्यक्दृष्टि ज्ञानी वस्तु स्वभाव को जानता है अतः वह भटकता नहीं है, समता, शांति, निःकांक्षित भाव रखता है; इसलिये राग-द्वेष-मोह के अभाव में उसे कर्मबन्ध नहीं होता।

प्रश्न- जो साधक पाँचों इन्द्रियों का संयमी है उसको इन भावों से क्या प्रयोजन है ?

समाधान- जो साधक बाह्य में पाँचों इन्द्रियों का संयमी है परंतु उसकी रसबुद्धि नहीं छूटी है, लगाव बना हुआ है तो ऊपर से त्याग होने पर भी इन भावों में बहता रहता है, जिससे कर्मास्रव बन्ध होता है। जब तक शरीर का ममत्व राग नहीं छूटता तब तक यह सारे भाव रहते हैं।

प्रश्न-किस-किस भाव से कौन-कौन से कर्मों का आस्रव बंध होता है ?

समाधान-द्रव्य कर्म के आठ भेद हैं-१. ज्ञानावरणीय, २. दर्शनावरणीय, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयु, ६. नाम, ७. गोत्र, ८. अन्तराय।

जीव के किस भाव से कौन सा कर्मास्रव होता है यह संक्षेप में निम्न प्रकार से है :

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय कर्म के आस्रव भाव -

१. प्रदोष-प्रशंसा योग्य कथनी-करनी सुनकर दूषित वृत्ति व ईर्ष्या भाव से मौन रहना, प्रशंसा न करना।
२. निन्दव-वस्तु स्वरूप को जानते हुए भी ज्ञान को छिपाना, ऐसा कहना कि मैं नहीं जानता।
३. मात्सर्य-वस्तु स्वरूप को जानते हुए भी यह विचार कर किसी को न पढ़ाना, न बताना कि यदि मैं इसे कहूँगा तो यह पंडित हो जायेगा।
४. अन्तराय-यथार्थ दर्शन-ज्ञान की प्राप्ति में विघ्न बाधा डालना।
५. आसादन-ज्ञान, दर्शन के कार्य, प्रकाश होने में रोक लगाना।
६. उपघात-यथार्थ दर्शन-ज्ञान में दोष लगाकर घात करना।

वेदनीय कर्म आस्रव के कारण -

वेदनीय कर्म-इसके दो भेद हैं-साता, असाता।

साता वेदनीय आस्रव के कारणभूत परिणाम -

१. भूतानुकम्पा-समस्त जीवों में दया भाव-अनुकम्पा।
२. व्रती अनुकम्पा-व्रती संयमी जीवों के प्रति विशेष दयाभाव।
३. दान-चार प्रकार का पात्र दान देना और हमेशा देने के भाव होना।
४. सराग संयम-मुनि धर्म, साधु पद होने के भाव रहना।
५. संयमासंयम-श्रावक धर्म, प्रतिमाधारी व्रती होने के भाव रहना।
६. अकाम निर्जरा-समता, शांति से कर्मोदय को सहना, तप-व्रतादि पालन करना।
७. बाल तप-अज्ञानता पूर्वक संयम- तप के पालन में दृढ़ रहना।
८. क्षान्ति-क्षमा, शांति रूप परिणाम।
९. शौच-कषायों की मंदता होना, सरल, सहज परिणाम रखना।

असाता वेदनीय आस्रव के कारणभूत परिणाम -

१. दुःख-पीड़ा रूप परिणाम, निरंतर दुःखी रहना या किसी को दुःखी करना।
२. शोक-इष्ट वियोग में खेद, खिन्नता, विकलता, शोकमय रहना (स्व-पर में)
३. ताप- पर के द्वारा अपनी निन्दा होने पर संताप रूप भाव तथा पर की निन्दा करना।
४. आक्रन्दन-पश्चात्ताप से अश्रुपात करके रोना, विलाप करना।
५. वध-हाथ पैर पटकना, प्राणों का वियोग करना।
६. परिदेवन-संक्लेश परिणामों से करुणा जनक विलाप करना।

स्वयं को तथा पर को या एक साथ दोनों को दुःख शोकादि उत्पन्न करना सो असाता वेदनीय कर्म के आस्रव का कारण होता है।

मोहनीय कर्म (दो भेद- दर्शन मोहनीय, चारित्र मोहनीय) के आस्रव भाव -

१. दर्शन मोहनीय-केवली का अवर्णवाद, श्रुत का अवर्णवाद, संघ का अवर्णवाद, धर्म का अवर्णवाद और देव का अवर्णवाद करना अर्थात् जिसमें जो दोष न हों उसमें उस दोष का आरोपण करना, मिथ्या दोष लगाना, मिथ्या अभिप्राय, द्वेष बुद्धि रखना। इससे दर्शन मोहनीय, मिथ्यात्व कर्म का आस्रव बन्ध होता है।

२. चारित्र मोहनीय-२५ कषायोदय वश पच्चीस प्रकार के तीव्र संक्लेश भाव होना।

आयुर्कर्म के आस्रव भाव -

१. नरकायु- बहु आरम्भ-प्रचुर पापपूर्ण क्रियाओं में तीव्र प्रवृत्ति होना।
बहुपरिग्रह-अति तीव्र मूर्च्छापूर्ण पाप बहुल परिणाम में लोभ करना।
२. तीर्थचायु- मायाचारी, तीव्र छल कपटपूर्ण विश्वासघात, कुटिल स्वभाव।
३. मनुष्यायु- अल्पारंभ-आवश्यक क्रिया में भी थोड़ा आरम्भ करना।
अल्पपरिग्रह-संतोषपूर्ण वृत्ति, थोड़ी मूर्च्छा होना।
मृदु स्वभाव-सरल, कोमल, शान्त, सहज स्वभाव होना।
४. देवायु- सराग संयम-मुनिधर्म के संयम में विशेष रुचि, साधु होना।
संयमासंयम-श्रावक धर्म के चारित्र में रुचि; व्रत, प्रतिमादि पालन करना।
अकाम निर्जरा-पराश्रित, कष्टपूर्ण जीवन में भी समता शांति रखना।
बाल तप-अज्ञानता पूर्ण व्रत, तप आचरण करना।
सम्यक्त्व-निर्दोष सम्यग्दर्शन का पालन करना।

नामकर्म के आस्रव भाव-

१. अशुभ नाम-योगवक्रता, मन-वचन-काय की कुटिलता और अन्यथा प्रवृत्ति करना।
विसंवादन -मिथ्याचार पूर्वक व्यर्थ चर्चा, उठा-पटक करना।
२. शुभ नाम-सरल सुप्रवृत्ति, मन-वचन-काय की सरल प्रवृत्ति शुभ योग होना। तीर्थकर प्रकृति के बन्ध का कारण-सोलह कारण भावना भाने से तीर्थकर प्रकृति का बन्ध होता है।

गोत्र कर्म के आस्रव भाव-

१. नीच गोत्र-परनिंदा, निन्दक प्रवृत्ति, आत्मप्रशंसा- अपने मुँह अपनी बड़ाई करना।
सद्गुणोच्छादन-दूसरों के उत्तम गुणों को ढांकना, कभी किसी की प्रशंसा नहीं करना।
असदोद्भावना-दूसरों की बुराई निन्दा करना उनके अवगुणों को प्रगट करना।
२. उच्चगोत्र-आत्मनिन्दा-अपनी गलतियों का ध्यान रखना, अपने दोष न छिपाना।
पर प्रशंसा-दूसरों के गुणों को ग्रहण करना, प्रशंसा करना। अपने गुण ढांकना-कभी अपने मुख से अपनी प्रशंसा न करना। परगुण प्रकाश-दूसरों के गुणों की सदैव प्रभावना, प्रशंसा करना।
विनीत वृत्ति-स्वाभाविक विनय भाव होना। अनुत्सेक-गुणी होकर भी निरभिमानी, विनम्र होना।

अन्तराय कर्म के आस्रव भाव -

दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में विघ्न करना सो अन्तराय कर्म के आस्रव का कारण है।

अज्ञानी जीव को जो मोह, राग, द्वेष रूप आस्रव भाव हैं वह उन्हें नष्ट करने की चिन्ता नहीं करता बल्कि बाह्य क्रिया तथा बाह्य निमित्त को दूर करने का उपाय करता है; किन्तु इनके मिटने से ही आस्रव नहीं मिटते। द्रव्यलिंगी मुनि, अन्य कुदेवादि की सेवा नहीं करता, हिंसा तथा विषयों में प्रवृत्ति नहीं करता, क्रोधादि नहीं करता तथा मन-वचन-काय को रोकने का भाव करता है तो भी उसको मिथ्यात्वादि चार आस्रव होते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि जो बाह्य शरीरादि की क्रिया है, वह आस्रव नहीं है अपितु अन्तरंग अभिप्राय में जो मिथ्यात्वादि रागादिक भाव हैं वही आस्रव है। जो जीव उसे नहीं पहिचानता उसे आस्रव तत्त्व का यथार्थ श्रद्धान नहीं है।

सम्यग्दर्शन हुए बिना आस्रव तत्त्व किंचित् मात्र भी दूर नहीं होता इसलिए जीवों को प्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का यथार्थ उपाय करना चाहिए। सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान के बिना किसी भी जीव के आस्रव दूर नहीं होते और न ही धर्म होता है।

३६. आहार, निद्रा, भय : तीन भाव

गाथा-४४

आहारं असुद्धं भावं, निद्रा मिथ्यात भूतयं।

भावं सुद्ध तिक्तं च, त्रिभंगी संसार भाजनं ॥

अन्वयार्थ-(आहारं असुद्धं भावं) आहार करने के भाव अशुद्ध भाव हैं (निद्रा मिथ्यात भूतयं) निद्रा, सोने का भाव प्रमाद, यह मिथ्यात्व का भूत है (भावं सुद्ध तिक्तं च) भावों की शुद्धि को छोड़कर कर्मोदय से भयभीत रहना (त्रिभंगी संसार भाजनं) यह तीनों भाव संसार के पात्र बनाने वाले कर्मास्रव के कारण हैं।

विशेषार्थ- जब तक जीव को आहार, निद्रा और भय के भाव होते हैं तब तक कर्मास्रव होता है और यह तीनों भाव संसार का पात्र बनाने वाले हैं। आत्मा के जिस परिणाम से कर्म आते हैं उसे भावास्रव जानों तथा कर्मों का आना द्रव्यास्रव कहलाता है।

जिसका राग प्रशस्त है अर्थात् जो पंच परमेष्ठी के गुणों में, उत्तम धर्म में

अनुराग करता है। जिसके परिणाम दया युक्त हैं और मन में क्रोधादि रूप कलुषता नहीं है उस जीव के पुण्य कर्म का आस्रव होता है।

तीव्र मोह के उदय से होने वाली आहार, निद्रा, भयरूप संज्ञा में जीव अशुद्ध भाव तथा मिथ्यात्व भाव में मूर्च्छित रहता है, पूर्व कर्मबंध के उदय का भय लगा रहता है, जिससे निरंतर अशुभ कर्मास्रव होता है।

इन्द्रियों में रसना इन्द्रिय, कर्मों में मोहनीय कर्म, व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत, गुप्तियों में मनोगुप्ति। यह चार बहुत साधना और अभ्यास से वश में होते हैं। रसना इन्द्रिय से आहार के भाव, मोहनीय कर्म से दुःख और मन से भय की उत्पत्ति होती है। मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले ममत्व परिणाम को मूर्च्छा कहते हैं।

चेतन परिग्रह मनुष्य के मन को जैसा कष्ट देता है, भयभीत करता है वैसा कष्ट और भय अचेतन परिग्रह नहीं देता। अचेतन परिग्रह धन, वैभव, मकान, जमीन, जायदाद के साथ तो मनुष्य का केवल स्वामित्व सम्बन्ध रहता है; किन्तु चेतन परिग्रह भाई-बहिन, पिता-पुत्र, पति-पत्नि का सम्बन्ध अन्तरंग मोह के कारण अधिक कष्टदायक, भययुक्त होता है। संसार में स्त्री और धन का राग बहुत प्रबल है। स्त्री के त्यागी भी धन के राग से बच नहीं पाते। इस धन की तृष्णा के चक्र में पड़कर मनुष्य धर्म-कर्म भी भुला बैठता है और आवश्यकता नहीं होने पर भी धन के संचय में लगा रहता है। जैसे-जैसे धन प्राप्त होता है वैसे-वैसे लोभ बढ़ता जाता है।

असली परिग्रह तो शरीर ही है, इससे भी जो ममत्व नहीं करता वही परम निर्ग्रन्थ है। शरीर ही बाह्य परिग्रह है और इन्द्रियों की विषयाभिलाषा अन्तरंग परिग्रह है। शरीर का ममत्व होने से ही आहार, निद्रा और भय के भाव होते हैं। इनको त्यागने पर ही क्षपक परमार्थ से निर्ग्रन्थ होते हैं। भेदज्ञान से दोनों को पृथक्-पृथक् निश्चय करके मन में होने वाले राग-द्वेष मूलक सभी विकल्पों को दूर करके, निर्विकल्प स्थिति में शुद्धात्मा की उपलब्धि या अनुभूति होती है।

गृह त्याग किये बिना मोक्षमार्ग की निरन्तर आराधना संभव नहीं है; किंतु घर छोड़कर साधु बनने के पहले उसकी तैयारी, उससे भी अधिक आवश्यक है। यह तैयारी है संसार शरीर और भोगों से आन्तरिक विरक्ति। वह विरक्ति किसी लौकिक लाभ से प्रेरित या श्मशान वैराग्य जैसी क्षणिक नहीं होनी चाहिए।

सात तत्त्वों के सम्यक् परिज्ञानपूर्वक आत्मतत्त्व की उपलब्धि रूप सम्यक्दृष्टि प्राप्त होनी चाहिये। बिना आत्मज्ञानके घर छोड़कर मुनि बनना उचित नहीं है। अन्तर्दृष्टि इतनी प्रबुद्ध होना चाहिये कि आत्महित या अहित करने वाले पदार्थों, भाव, निमित्तों को परखकर तत्काल हित में लग सकें और अहित से बच सकें, तब घर छोड़ना। कमाने या घरेलू परेशानियों के कारण घर न छोड़ें। एकमात्र पापकर्म बन्ध के भय से घर छोड़ें और छोड़कर पछताएं नहीं। साधु मार्ग के कष्टों को सहन करने में समर्थ होना चाहिए। मायाचार, मिथ्यात्व और आगामी भोगों की भावना नहीं होना चाहिए, तभी मोक्षमार्ग की सही आराधना हो सकती है।

प्रश्न- आत्मा का कर्मास्रव और बन्ध से कब और कैसे छुटकारा होता है ?

समाधान- जीव और कर्मों के सम्बन्ध की परम्परा अनादि है। पूर्वबद्ध कर्म के उदय का निमित्त पाकर जीव राग-द्वेष रूप परिणमन स्वतः करता है। जीव के राग-द्वेष रूप परिणामों का निमित्त पाकर कार्माण वर्गणायें स्वयं ज्ञानावरणादि रूप से परिणमन करती हैं। इससे बचने के लिए कर्मजन्य रागादि भावों से आत्मा की भिन्नता को जानकर आत्मा के यथार्थ स्वरूप का श्रद्धान और ज्ञान तथा रागादि रूप से परिणमन न करके राग और द्वेष की निवृत्ति रूप साम्यभाव को धारण करना चाहिए, इसी का नाम चारित्र है। ऐसा करने पर ही आत्मा से कर्मास्रव बन्ध का छुटकारा होता है।

प्रश्न-इसमें बाह्य त्याग-संयम-तप आवश्यक हैं या नहीं ?

समाधान- इष्ट विषयों से राग और अनिष्ट विषयों से द्वेष का त्याग किए बिना परिग्रह त्याग परिपूर्ण नहीं होता।

राग-द्वेष का नाम प्रवृत्ति है और उनके अभाव का नाम निवृत्ति है। बाह्य पदार्थों का त्याग मूल वस्तु नहीं है, मूल वस्तु है राग-द्वेष का त्याग; किन्तु राग-द्वेष बाह्य पदार्थों को लेकर ही होते हैं; इसलिए राग-द्वेष का आलंबन होने से बाह्य पदार्थों को भी छोड़ना चाहिए।

निश्चय से चारित्र ही धर्म है। मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम साम्य है और साम्यभाव ही चारित्र, धर्म है। इसी से कर्मास्रव बन्ध से छुटकारा होता है।

नीचे की भूमिका अर्थात् ग्रहस्थ दशा में प्राणीरक्षा, सत्य भाषण, दी हुई वस्तु का ग्रहण, ब्रह्मचर्य और योग्य परिग्रह के स्वीकार में जो प्रवृत्ति होती है, उग्र की भूमिका

में उसकी भी निवृत्ति हो जाती है। अत्रती, व्रत ग्रहण करके और व्रती ज्ञानाभ्यास करके, ज्ञानतत्पर परमात्म बुद्धि से सम्पन्न होकर स्वयं परमात्मा हो जाता है।

ज्ञेय और ज्ञाता में अथवा ज्ञेय से युक्त ज्ञाता में सर्वज्ञ भगवान के द्वारा जैसा कहा गया है और जैसा उनका यथार्थ स्वरूप है, तदनुसार प्रतीति होना सम्यग्दर्शन है और अनुभूति होना सम्यक्ज्ञान है।

जो सांसारिक सुख से विरक्त होता है वही चारित्र में प्रयत्नशील होता है। जिसका चित्त सांसारिक सुखों में आसक्त है वह चारित्र क्यों धारण करेगा ? चारित्र का आशय है स्वरूप में आचरण। इन्द्रिय जन्य सुख से आसक्ति हटे बिना स्वरूप में रुचि ही नहीं होती, प्रवृत्ति तो दूर की बात है; अतः जिनवाणी के कथनानुसार निश्चय-व्यवहार का यथार्थ स्वरूप समझकर सम्यक् आचरण करना ही मुक्ति का मार्ग है।

बाह्य विषयों का त्याग, द्रव्य त्याग है और अन्तर्वर्ती विषय सम्बन्धी विकल्पों का त्याग, भाव त्याग है। दोनों प्रकार से त्याग करने वाले विश्व पूज्य होते हैं।

इस प्रकार मन-वचन-काय तीनों योग की प्रवृत्ति से आत्मप्रदेशों का परिस्पंदन, हलन-चलन होना कर्मास्रव है। जिनका १०८ प्रकार के भावों द्वारा आस्रव भाव का निरूपण किया है। इनसे बचने के लिए साधक को सावधान रहते हुए अपना अन्तर शोधन करना चाहिए; तब ही वह कर्मास्रव से बच सकता है।

मोह रूप संकल्प तथा राग-द्वेष रूप विकल्प यह सब जीव के अज्ञान भाव हैं। यह जीव अपनी इस भूल के कारण ही कर्म बन्ध करता है, यदि वह अपने स्वरूप का सही बोध कर ले और किसी भी पदार्थ में राग-द्वेष की भावना न करे तो, अज्ञान चेतना रहित, ज्ञान चेतना सहित वह ज्ञानी है। उस समय उसकी यह परिणति ज्ञानमय परिणति है, इस ज्ञानमय परिणति के होने पर जीव दोनों प्रकार के आस्रव अभाव कर निरास्रवदशा को प्राप्त करता है।

कर्मास्रव का निरोध होना ही मोक्षमार्ग है।

✽ इति प्रथमोऽध्यायः ✽

द्वितीय अध्याय

त्रिभंगी आस्रव दल निरोधन भाव

प्रतिज्ञा

गाथा-४५

त्रिभंगी प्रवेसं प्रोक्तं, भव्यात्मा हृदयं चिंतनं।

तेनाऽहं निरोधनं कृत्वा, जिन उक्तं सुद्ध दिष्टितं॥

अन्वयार्थ- (त्रिभंगी प्रवेसं प्रोक्तं) तीन-तीन भावों के समूह जो कर्मास्रव के कारण हैं उनको कहा है (भव्यात्मा हृदयं चिंतनं) उनको समझ कर भव्य जीव हृदय में विचार करते हैं (तेनाऽहं निरोधनं कृत्वा) मैं उन आस्रव भावों का निरोध करूँगा अथवा जो उन भावों का निरोध करते हैं (जिन उक्तं सुद्ध दिष्टितं) जिनेन्द्र कहते हैं कि वे शुद्ध दृष्टि हैं।

विशेषार्थ- पूर्व कथित छत्तीस त्रिभंगी दलों में कर्मों के आस्रव व बन्ध में हेतुभूत भावों को बताया गया है। उनको समझकर भव्य जीव हृदय में विचार करते हैं कि- जब तक कर्मास्रव होगा, तब तक मुक्ति नहीं हो सकती। जैसे नाव में पानी आने की संधियाँ हों तो उनको ढाँट लगाकर बन्द करते हैं, तभी नदी पार कर सकते हैं। इसी प्रकार इन आस्रव भावों का निरोध करने पर ही मुक्ति होती है।

जिनेन्द्र द्वारा बताई गई निज शुद्धात्मा की अनुभूति में जो डूबते हैं वही शुद्ध दृष्टि इन आस्रव भावों का निरोध करते हैं। वन में रहने वाले निर्ग्रन्थ वीतरागी साधु आत्मा के अमृत कुण्ड में मग्न होकर छटवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हैं, तब ही कर्मास्रव का निरोध होता है।

ज्ञानी को यथार्थ दृष्टि प्रगट हुई है। वह द्रव्य स्वभाव के आलम्बन द्वारा अन्तर स्वरूप स्थिरता में वृद्धि करता जाता है; परंतु जब तक अपूर्ण दशा है, पुरुषार्थ मन्द है, पूर्णरूप से शुद्ध स्वरूप में स्थिर नहीं है तब तक वह शुभाशुभ परिणामों में संयुक्त होता है। ज्ञानी को हर समय यही भावना वर्तती है कि इसी क्षण पूर्ण वीतरागता प्रगट हो तो मुझे यह शुभाशुभ परिणाम भी नहीं चाहिए।

आत्म प्रदेशों का निष्कंप होना ही कर्मास्रव का निरोध है। जो भव्य जीव इतना प्रबल पुरुषार्थ करते हैं; त्रियोग की साधना करते हैं वे ही शुद्ध दृष्टि मुक्तिमार्ग के

पथिक हैं। वीतरागता होने से उन्हें ज्ञान की अगाध अद्भुत शक्ति प्रगट होती है; और आस्रव का निरोध होता है।

प्रश्न-जब आत्म प्रदेशों के निष्कंप होने, अपने ममल स्वभाव में रहने से कर्मास्रव का निरोध होता है, तो यह आस्रव निरोध भाव क्यों कहे जाते हैं ?

समाधान-ज्ञानी की साधक दशा में सारा खेल भावों का ही है। यहाँ अभी आस्रव के साथ कर्मबन्ध भी होता है, इसलिए उनसे बचना आवश्यक है। साधक दशा में साधक के योग्य अनेक परिणाम वर्तते हैं। मुनि तथा सम्यक्दृष्टि श्रावक को जो भाव आते हैं वे ज्ञातृत्व परिणति से विरुद्ध स्वभाव वाले होने के कारण उनका आकुलता रूप से दुःख रूप से वेदन होता है, हेयरूप ज्ञात होते हैं तथापि उस भूमिका में आये बिना नहीं रहते। इन भावों की धारा को बदलना ही वर्तमान में साधक का पुरुषार्थ है। इससे जो कर्मास्रव बन्ध होता है उससे छुटकारा हो जाता है। तब ही आगे बढ़ने का मार्ग बनता है।

जैसे आगम में २ मिथ्यात्व, १२ अविरति, १५ प्रमाद, २५ कषाय और ३ योग; यह कर्म आस्रव और बन्ध के कारण कहे हैं, वैसे ही- ३ गुप्ति, ५ समिति, १० धर्म, १२ अनुप्रेक्षा, २२ परीषह जय और ५ चारित्र यह संवर के कारण कहे हैं।

इसी अभिप्राय से १०८ भाव से आस्रव रूप परिणामों का वर्णन किया और १०८ भाव से आस्रव के निरोध रूप संवर भाव कहे जाते हैं।

१. देव, गुरु, धर्म (शास्त्र): तीन भाव

गाथा-४६

देव देवाधि देवं च, गुरु ग्रन्थस्य मुक्तयं ।

धर्म अहिंसा उत्पाद्यं, त्रिभंगी दल निरोधनं ॥

अन्वयार्थ-(देव देवाधि देवं च) देवों के अधिपति परम देव परमात्मा तो सच्चे देव हैं (गुरु ग्रन्थस्य मुक्तयं) समस्त पाप परिग्रह के त्यागी, सर्वबन्धनों से मुक्त निर्ग्रन्थ वीतरागी साधु सच्चे गुरु हैं (धर्म अहिंसा उत्पाद्यं) धर्म अहिंसा मयी है और इसका प्रतिपादन करने वाले शास्त्र हैं (त्रिभंगी दल निरोधनं) ऐसे सच्चे देव, सच्चे गुरु, सच्चे धर्म (शास्त्र) की आराधना, भक्ति , कर्मबन्ध को रोकने वाली है।

विशेषार्थ- जिसे मोक्ष की भावना जागी है, जो अपना आत्मकल्याण करना चाहता है,

जिसे कर्मास्रव बन्ध से छूटना है उसे आत्महित में साधक, सच्चे देव, गुरु, शास्त्र की महिमा आती है। कोई भी कार्य करते हुए उसे निरंतर शुद्ध स्वभाव प्राप्त करने का भाव बना रहता है।

पुरुषार्थ की निर्बलता के कारण अस्थिरता रूप विभाव परिणति में शुभाशुभ परिणाम होते हैं। इस विभाव परिणति को रोकने का उपाय सच्चे देव, गुरु, धर्म, निज शुद्धात्म स्वरूप का चिंतन, मनन, शास्त्र स्वाध्याय करना है। जिससे यह शुभाशुभ भावों की धारा रुक जाती है। यह तीनों भाव आस्रव का निरोध करने वाले हैं।

आत्मा की मुख्यतापूर्वक सच्चे देव, गुरु, शास्त्र का आलम्बन साधक को आता है। “मैं द्रव्य से परिपूर्ण महाप्रभु हूँ, भगवान हूँ, कृत-कृत्य हूँ” - ऐसा मानते हुए भी - “पर्याय में तो अभी पामरता है” ऐसा ज्ञानी जानते हैं।

सच्चे देव - देवाधिपति इन्द्रों द्वारा वन्दनीय, परम देव - परमात्मा जो अरिहन्त और सिद्ध पद को प्राप्त हो गये हैं। जिनके सारे कर्मबन्धन और जन्म-मरण का चक्र छूट गया है, जो वीतरागी, सर्वज्ञ, हितोपदेशी, अपने आनंद परमानंद पद में विराजमान हैं। जिनके घातिया कर्म क्षय हो गये हैं, अनन्त चतुष्टय प्रगट हो गये हैं। जो नौ क्षायिक लब्धि के धनी केवलज्ञानी अरिहंत परमात्मा हैं, ऐसा ही मेरे आत्मा का शुद्ध स्वभाव है। मैं भी द्रव्य स्वभाव से आत्मा-शुद्धात्मा परमात्मा हूँ। ऐसा परमात्मा और आत्मस्वरूप का विचार करना, यही सच्चे देव की आराधना है, इससे आस्रवभाव का निरोध होता है।

जिस समय अरिहन्त परमात्मा आयु के अंत में शेष चार अघातिया कर्मों का क्षयकर पूर्ण मुक्त, शरीर रहित परमशुद्ध हो जाते हैं, उस समय उन्हें सिद्ध कहते हैं। ऐसा ही “सिद्ध समान सदा पद मेरो” अर्थात् मैं भी सिद्ध के समान शुद्ध अशरीरी, अविकारी, शुद्धात्मा परमात्मा हूँ। इस तरह सिद्ध स्वरूप का चिन्तन करते हुए अपने स्वरूप का विचार करना- यही भाव आस्रव का निरोध करने वाले हैं।

सच्चे गुरु- जो सम्पूर्ण बन्धनों से रहित, निर्ग्रन्थ, वीतरागी, महाव्रती साधु हैं। जो अपने आत्मज्ञान-आत्मध्यान में लीन रहते हैं। जो अंतरंग-बहिरंग परिग्रह के त्यागी, जितेन्द्रिय, सरल स्वभाव के धारी होते हैं। जिनके सत्संग और उपदेश से संसारी जीव का अज्ञान भाव दूर होता है। जो स्वयं मोक्षमार्ग के पथिक हैं तथा मोक्षमार्ग बताते हैं ऐसे सद्गुरु

का सत्संग तथा ऐसे ही निर्ग्रन्थ-वीतरागी साधु होने की भावना करना; क्योंकि अपने स्वरूप की साधना से साधुपद प्रगट होता है। निश्चय से अपना अन्तरात्मा ही सद्गुरु है। ऐसे सद्गुरु के सत्संग और स्वरूप का चिंतन करने से आस्रव भाव का निरोध होता है।

सच्चे शास्त्र- अपना शुद्ध स्वभाव ही धर्म है। ऐसे सत्स्वरूप को बताने वाले, अहिंसा का प्रतिपादन करने वाले सच्चे शास्त्र होते हैं। जिनका स्वाध्याय, चिन्तन, मनन करने से आत्म स्वरूप का बोध जागता है, संसार के दुःखों से छूटने के भाव होते हैं, इन भावों से कर्मास्रव का निरोध होता है।

साधक जीव को भूमिकानुसार शुभाशुभ विकल्प आते ही हैं। इनसे बचने के लिये साधक को देव गुरु शास्त्र के स्वरूप का चिन्तन मनन करने से अपने आत्मस्वरूप का बोध जाग्रत होता है जिससे आस्रव भाव का निरोध होता है।

प्रश्न- देव-गुरु-शास्त्र (धर्म) के भाव, चिन्तन भी शुभ विकल्प हैं, तब इनसे आस्रव का निरोध कैसे होगा ?

समाधान- चौथे गुणस्थान में उपादेय रूप शुद्ध भाव अल्प हैं तथा यह भाव पाँचवें-छठवें गुणस्थान में विकसित होता जाता है और हेय रूप विकार चौथे गुणस्थान की अपेक्षा पाँचवें-छठवें गुणस्थान में मंद होता जाता है। जैसे-जैसे शुद्धता बढ़ती है वैसे-वैसे गुणस्थान क्रम भी आगे बढ़ता जाता है। गुणस्थान अनुसार स्वज्ञेय को ग्रहण करने की शक्ति भी विकसित होती जाती है। गुणस्थान अनुसार ही ज्ञान व उसी के अनुसार क्रिया होती है।

शुद्ध निश्चय रूप शुद्धोपयोग में साधक के लिये शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव आत्मा ध्येय (ध्यान करने योग्य) होता है। इस प्रकार शुद्ध ध्येय होने से, शुद्ध का अवलम्बन होने से, शुद्ध आत्मस्वरूप का अनुभव होने से शुद्धोपयोग सहित होता है, उसी को संवर कहते हैं।

आस्रव निरोधन भाव संवर रूप यह शुद्धोपयोग संसार के कारण मिथ्यात्व राग आदि अशुद्ध पर्याय की तरह अशुद्ध नहीं होता, और न ही शुद्धोपयोग के फलस्वरूप केवलज्ञान लक्षण शुद्ध पर्याय की तरह शुद्ध ही होता है; किन्तु उन शुद्ध और अशुद्ध पर्यायों से विलक्षण एक तीसरी अवस्था कही जाती है जो शुद्धात्मा की अनुभूति रूप निश्चय रत्नत्रयात्मक होने से मोक्ष का कारण होती है, तथा यह एक देश व्यक्ति (प्रगटता) रूप और एकदेश निरावरण होती है; अतः जहाँ जितने अंश में विशुद्धि है उतने अंश में संवर होता है।

२. व्यवहार दर्शन, न्यान, चारित्र : तीन भाव

गाथा-४७

दर्शनं तत्त्व सर्थानं, न्यानं तत्त्वानि वेदनं ।

स्थिरं तत्त्व चारित्रं, त्रितियं सुद्धात्मा गुणं ॥

अन्वयार्थ- (दर्शनं तत्त्व सर्थानं) सात तत्त्वों का या आत्म तत्त्व का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है (न्यानं तत्त्वानि वेदनं) तत्त्वों को अनुभवपूर्वक जानना सम्यग्ज्ञान है (स्थिरं तत्त्व चारित्रं) आत्मतत्त्व में स्थिर होना सम्यक्चारित्र है (त्रितियं सुद्धात्मा गुणं) यह तीनों ही रत्नत्रय, शुद्धात्मा के गुण हैं।

विशेषार्थ- जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष- इन सात तत्त्वों का श्रद्धान करना व्यवहार सम्यक्दर्शन है। सात तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को जानना व्यवहार सम्यक्ज्ञान है। इनमें से बंध के कारणों से बचकर संवर व निर्जरा के कारणों में प्रवृत्ति करने के लिये साधु का महाव्रत रूप व ग्रहस्थ का अणुव्रत रूप आचरण पालन करना व्यवहार चारित्र है।

मोक्ष का मार्ग या प्राप्ति का उपाय व्यवहार नय से तो सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है किन्तु निश्चय नय से रत्नत्रयमयी स्वात्मा ही मोक्ष का मार्ग है।

जिनेन्द्र भगवान के द्वारा अपने धर्मोपदेश में कहा गया है कि देव, गुरु, शास्त्र का श्रद्धान, पूजा-भक्ति आदि के साथ व्रताचरण करना पुण्य है; और मोह, क्षोभ से रहित आत्मा के परिणाम को धर्म कहते हैं, शास्त्रों में उपचार व्यवहार से पुण्य को धर्म शब्द से कहा गया है। धर्म का प्रारम्भ वस्तुतः सम्यग्दर्शन से होता है।

सात तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान करके निज शुद्धात्मा ही इष्ट उपादेय है, इस प्रकार की रुचिपूर्वक अनुभूति का नाम सम्यग्दर्शन है। सम्यक्दृष्टि पुण्य और पाप दोनों को ही हेय मानता है फिर भी पुण्यबन्ध से बचता नहीं है।

जीव की सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप विशुद्धि को धर्म कहते हैं। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र रूप संक्लेश परिणाम को अधर्म कहते हैं।

सम्यग्दर्शन के शंकादि दोष हैं। ज्ञान के संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय

दोष हैं। चारित्र के प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाओं का पालन न करना दोष है।

जीव के परिणाम निश्चय नय के श्रद्धान से विमुख होकर शरीरादि पर द्रव्यों के साथ एकत्व श्रद्धान रूप होकर जो प्रवृत्ति करते हैं, उसी का नाम संसार है।

अज्ञानी, चैतन्य स्वरूप आत्मा कहने से समझता है कि यह कोई अलग परमेश्वर है। निश्चय से तो आत्मा ही चैतन्य स्वरूप परमात्मा है। लोग शुद्ध नय को नहीं जानते क्योंकि शुद्ध नय का विषय अभेद एक रूप वस्तु है किन्तु वे व्यवहार के द्वारा ही परमार्थ को समझते हैं; इसलिए व्यवहार के द्वारा परमार्थ का लक्ष्य बनाना, साधक की साधना की सिद्धी है।

इस प्रकार व्यवहार दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा अपने शुद्धात्मा के गुणों को जानने से आस्रव भाव का निरोध होता है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र मयी अपना आत्मस्वरूप है यही शरणभूत है इसके आश्रय से ही कर्म बंध से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। स्वाश्रय ही कर्मास्रव से बचने का उपाय है।

3. निश्चय सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र : तीन भाव गाथा-४८

संमिक् दर्शनं न्यानं, चारित्रं सुद्धात्मनं ।

स्व स्वरूपं च आराध्यं, त्रिभंगी समय षण्डनं ॥

अन्वयार्थ- (संमिक् दर्शनं न्यानं) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान (चारित्रं सुद्धात्मनं) सम्यग्चारित्र शुद्धात्मा ही है (स्व स्वरूपं च आराध्यं) ऐसे अपने स्वरूप की आराधना करने से (त्रिभंगी समय षण्डनं) निश्चय रत्नत्रय स्वरूप आत्मा ही आस्रव भावों का खण्डन करने वाला है।

विशेषार्थ- निश्चय रत्नत्रय आत्मानुभव रूप है। यही यथार्थ में कर्मास्रव को दूर करने वाला है। सम्यग्दर्शन स्वरूप परमसुख आत्मा का स्वभाव है, सम्यग्ज्ञान स्वरूप परम शांति आत्मा का स्वभाव है, सम्यक्चारित्र स्वरूप परम आनंद आत्मा का स्वभाव है। तीनों ही अखण्ड आत्मा में इस तरह व्यापक स्वभाव है, जैसे स्वर्ण में पीतपना, भारीपना और चिकनापना व्यापक है या अग्नि में दाहकपना, पाचकपना, प्रकाशकपना व्यापक है।

आत्मा का आत्मा रूप, जैसा का तैसा अनुभव प्रमाण श्रद्धान सम्यक्त्व है। ऐसा ही सन्देह रहित ज्ञान सम्यक्ज्ञान है। इसी ज्ञान-श्रद्धान में स्थिर होना सम्यक्चारित्र है।

आत्मा स्वभाव से, द्रव्य दृष्टि से सदाकाल एक स्वभाव है, अमूर्तिक है, ज्ञान दर्शन मय है, वीतराग, परमानंदमय है, सिद्ध भगवान के समान है, ऐसा श्रद्धान-ज्ञान व उसी भाव में लवलीन होना निश्चय रत्नत्रय है, यह आत्मा का स्वरूप स्व समय रूप है।

मन-वचन-काय के अगोचर एक अवक्तव्य स्वसंवेदनज्ञान है, अतीन्द्रिय आनंद है, यही आत्मध्यान की अग्नि है, इसी से संवर होता है, निर्जरा होती है, यही मोक्षमार्ग है। ज्ञानी सदैव ऐसा ही स्वानुभव आराधन करते हैं।

त्रिकाली ध्रुव आत्म द्रव्य को पकड़ने पर ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान होता है, उसे पकड़ने पर ही चारित्र होता है, उसे पकड़ने पर ही केवलज्ञान होता है।

जो जीव दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित हो रहा है उसे निश्चय से स्वसमय तथा जो जीव पुद्गल कर्म के प्रदेशों में स्थित है उसे परसमय जानो।

ज्ञानी के दर्शन-ज्ञान-चारित्र यह तीन भाव व्यवहार से कहे जाते हैं। निश्चय से दर्शन भी नहीं है, ज्ञान भी नहीं है, चारित्र भी नहीं है; ज्ञानी तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है।

जो वीतरागी आत्मा, अपने ही आत्मा के द्वारा, अपने ही आत्मा में अपने ही आत्मा को निश्चल होकर देखता जानता है, वही निश्चय रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग है, इसी से कर्मास्रव का निरोध होता है।

अन्तर शुद्ध द्रव्य, एकरूप, निष्क्रिय, ध्रुव चिदानन्द सो निश्चय तथा उसके अवलम्बन से प्रगट हुई निर्विकल्प मोक्षमार्ग दशा व्यवहार है। अध्यात्म का ऐसा निश्चय-व्यवहार ज्ञानी ही जानता है, अज्ञानी नहीं।

प्रश्न - निश्चय मोक्षमार्ग की प्राप्ति किससे होती है ?

समाधान- अपने सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप के दोषों को दूर करके उन्हें निर्मल करना, उनमें सदा अपने को एकमेक रूप से वर्तन करना लाभ, पूजा, ख्याति आदि की अपेक्षा न करके निस्पृह भाव से उन सम्यग्दर्शन आदि को निराकुलता पूर्वक वहन करना, संसार से भयभीत अपनी आत्मा में इन सम्यग्दर्शनादि को पूर्ण करना। परीषह-उपसर्ग आने पर भी स्थिर होकर समाधिपूर्वक मरण करने पर ही मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है।

प्रश्न- जब “ सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः ” कहा है तो इसे

व्यवहार- निश्चय का भेद करके क्यों कहा गया है ?

समाधान- सबसे प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। जब काललब्धि आदि के योग से

भव्यत्व शक्ति की प्रगटता होती है, तब यह जीव सहज शुद्ध पारिणामिक भावरूप निज परमात्म द्रव्य के सम्यक् श्रद्धान, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् अनुचरण रूप पर्याय से परिणत होता है। इस परिणमन को आगम की भाषा में औपशमिक भाव, क्षायोपशमिक भाव या क्षायिक भाव कहते हैं; किंतु अध्यात्म की भाषा में उसे शुद्धात्मा के अभिमुख परिणाम शुद्धोपयोग आदि कहते हैं।

निश्चय नय से तो आत्मा पर द्रव्य से भिन्न और स्वभाव से अभिन्न स्वयं सिद्ध वस्तु है। जिसे भेदज्ञान पूर्वक ऐसे अपने शुद्धात्म स्वरूप का अनुभव प्रमाण श्रद्धान-ज्ञान हो जाता है वहाँ निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र पूर्वक मोक्षमार्ग आरम्भ हो जाता है तथा जिसे अपनी आत्मानुभूति नहीं हुई, आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान नहीं हुआ उसे व्यवहार रत्नत्रय सच्चे देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा, सात तत्त्वों का ज्ञान और संसार के दुःखों से भयभीतपने रूप पाप विषय-कषायों से निवृत्तिपूर्वक अपने आत्म स्वरूप की अनुभूति का उपाय बताया जाता है। दोनों का अभिप्राय अपने आत्मगुण प्रगट करके परमात्मा बनने का है, इसमें कोई विरोध नहीं है, लक्ष्य और अभिप्राय सही हों तो दोनों कार्यकारी हैं।

मूल में आत्मा की भावना से ही कर्मास्रव का निरोध होता है, और यह तीनों सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यग्चारित्र आत्मा के गुण हैं, इन तीनों भाव से कर्मास्रव का निरोध होता है।

४. संमिक् संजम, संमिक् तप, संमिक् परिनै : तीन भाव

गाथा-४९

संमिक् संजमं तवं चिंते, संमिक् परिनै तं ध्रुवं ।

सुद्धात्मा चेतना रूवं, जिन उक्तं सुद्ध दिस्तिंतं ॥

अन्वयार्थ-(संमिक् संजमं तवं चिंते) सम्यग्दर्शन सहित संयम की भावना करना, सम्यक्दर्शन सहित तप की भावना करना, (संमिक् परिनै तं ध्रुवं) सम्यक्दर्शन सहित पारिणामिक भाव जो अपना ध्रुव स्वभाव है, उसमें परिणमन करना (सुद्धात्मा चेतना रूवं) यह तीनों शुद्धात्मा का चैतन्य स्वरूप है (जिन उक्तं सुद्ध दिस्तिंतं) इन तीनों भावों का साधक शुद्ध दृष्टि है- ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है।

विशेषार्थ- संयम का स्वरूप इस प्रकार कहा है- व्रतों का धारण, समितियों का पालन, कषायों का निग्रह, मन-वचन-काय की प्रवृत्ति का त्याग और पाँचों इन्द्रिय तथा मन पर विजय, इसे संयम कहा गया है। अपने स्वरूप में स्थिर होकर आत्मानुभव करना सम्यक् संयम है; क्योंकि सम्यक्दर्शन के बिना स्वरूप में भले प्रकार स्थिर भाव नहीं रहता। जो व्रत व संयम सहित अपने निर्मल आत्मा का अनुभव करता है वह शीघ्र ही सिद्ध सुख को पाता है ऐसा जिनेन्द्र परमात्मा ने कहा है।

मोक्षमार्ग में नित्य उद्योगशील साधुओं को शारीरिक, वाचनिक, मानसिक ताप की शान्ति के लिए अथवा सहज शारीरिक और आगन्तुक दुःखों के विनाश के लिए तप रूपी समुद्र में स्नान और अवगाहन करना चाहिए ।

अनशन (उपवास), ऊनोदर, वृत्ति परिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्त शय्यासन, कायक्लेश यह छह बाह्य तप हैं तथा प्रायश्चित, विनय, वैय्याव्रत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, ध्यान यह छह अन्तरंग तप हैं। इन बारह तपों के द्वारा मन-वचन-काय को स्थिर करके सम्यग्दर्शन सहित अपने ही आत्मस्वरूप में एकतान होकर तपना सो सम्यक् तप है। इच्छा निरोध रूप अमृत ही तप का शरीर है। तप का मूल सम्यग्दर्शन है, तना दस धर्म है; शाखा बारह भावना है; पत्र पंच महाव्रत- पंच समितियाँ, तीन गुप्तियाँ हैं; पुष्प केवलज्ञान है, हवाएँ बाईस परीषह जय हैं, फल घाति-अघाति कर्म का क्षय सिद्ध पद है।

सम्यग्दर्शन सहित शुद्ध जीव तत्व नाम के पारिणामिक भाव में परिणमन करना रमण करना सम्यक् परिनै है।

आत्मा के द्वारा आत्मा में आत्मा का पर के आकार से रहित रूप से संवेदन होता है उसे ही स्वसंवेदन कहते हैं; जो स्वसंवेदन से सिद्ध है उसे अनुभव सिद्ध कहते हैं ।

कहने को तो यह तीन भाव हैं परन्तु वास्तव में यह तीनों ही शुद्धात्मा का एक चैतन्यमयी स्वानुभव रूप भाव है। आत्मा में लीन होना ही संयम है, वही तप है, वही स्व परिणमन है, इसी से कर्मास्रव का निरोध होता है। इसकी साधना करने वाला शुद्ध दृष्टि है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

सच्चा धर्म वही है जो राग-द्वेष से रहित पूर्ण ज्ञानी सर्वज्ञ परमात्मा के द्वारा कहा गया है। निश्चय से वस्तु का जो स्वभाव है वही धर्म है। जैसे आत्मा का चैतन्य

स्वभाव ही उसका धर्म है; किन्तु संसार अवस्था में वह चैतन्य स्वभाव तिरोहित होकर गति, इन्द्रिय और चौदह मार्गणाओं में चौदह गुणस्थान के द्वारा विभाजित होकर नाना रूप हो गया है। यद्यपि द्रव्य दृष्टि से वह एक ही है, इसी से भगवान् जिनेन्द्र देव ने जो धर्मोपदेश दिया है वह व्यवहार और निश्चय से व्यवस्थापित है।

जो साधु अपनी इन्द्रियों और मन के प्रसार को रोकता है तथा आत्मा के द्वारा आत्मा में आत्मा का अनुभवन करके कृतकृत्य अवस्था को प्राप्त करता है उसको प्रथम जीवनमुक्ति, पश्चात् परम मुक्ति प्राप्त होती है।

राग और द्वेष से की गई प्रवृत्ति और निवृत्ति से जीव को बन्ध होता है और तत्त्वज्ञान पूर्वक की गई उसी प्रवृत्ति और निवृत्ति से मोक्ष होता है। आत्म स्वरूप ही एक मात्र आश्रय करने योग्य है, निज स्वभाव के आश्रय और स्वरूप में रमणता से ही आस्रव बंध से मुक्ति होती है, वीतरागी जिनेन्द्र भगवंतों की देशना का यही सार है।

५. भाव सुद्ध, श्रद्धान, प्रमान : तीन भाव

गाथा-५०

भावए भाव सुद्धं च, परमानं स्वात्म चिंतनं ।

जिन उक्तं हृदयं सार्धं, त्रिभंगी दल षंडितं ॥

अन्वयार्थ- (भावए भाव सुद्धं च) भाव से भाव की शुद्धि होती है (परमानं स्वात्म चिंतनं) स्वात्म चिन्तन से भाव श्रुत ज्ञान प्रमाण होता है (जिन उक्तं हृदयं सार्धं) जिनेन्द्र कथित परमार्थ तत्त्व का हृदय में श्रद्धान होता है (त्रिभंगी दल षंडितं) इन तीन भावों से कर्मों का क्षय होता है।

विशेषार्थ- स्वात्मानुभव रूप शुद्ध भाव, शुद्धात्मा की भावना से होता है। भेदविज्ञान की बारम्बार भावना के अभ्यास से शुद्ध आत्मतत्त्व का लाभ होकर स्वानुभव होता है। उससे राग भाव विला जाता है, कर्मों का संवर होता है। इसी स्वानुभव रूप श्रुतज्ञान के द्वारा अविनाशी प्रकाश रूप निर्मल, उत्कृष्ट, निराकुल एक केवलज्ञान झलक जाता है।

आत्मा निश्चय नय से परम शुद्ध पदार्थ है। द्रव्यकर्म, भावकर्म, नो कर्म से भिन्न है। आत्मा सर्व परद्रव्यों से, परभावों से, परपर्यायों से भिन्न है, सिद्ध के समान शुद्ध है, यही ज्ञान प्रमाण है, जिसको भाव श्रुतज्ञान कहते हैं।

जिनवर कथित बाणी का स्वाध्याय करने से अपने शुद्धात्म स्वरूप का श्रद्धान हो जाता है, यही शुद्ध सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के प्रताप से स्वात्मानुभव होता है। स्वात्मानुभव ही जिन कथित परमार्थ धर्म का प्रकाश है, इसी से कर्मों का संवर व पूर्व कर्म की निर्जरा होती है-यही भाव श्रुतज्ञान केवलज्ञान का कारण है।

आत्मा को आत्मा के द्वारा पुण्य-पाप रूप शुभाशुभ योगों से रोककर दर्शन ज्ञान में स्थित होता हुआ और अन्य वस्तु की इच्छा से विरक्त होकर, जो आत्मा सर्वसंग से रहित निजात्मा को आत्मा के द्वारा ध्याता है, कर्म और अकर्म को नहीं ध्याता, चेतयिता होने से एकत्व का ही चिन्तन करता है, विचारता है, अनुभव करता है। यह आत्मा, आत्मा का ध्याता, दर्शन ज्ञानमय हुआ अल्पकाल में ही कर्म से रहित आत्मा को प्राप्त करता है।

आत्मा का जो भाव ज्ञान-दर्शन रूप उपयोग को प्राप्त कर शुभाशुभ योगों की क्रिया से विरक्त होता है और नवीन कर्म के आस्रव को रोकता है वही संवर तत्त्व है।

इस प्रकार भावशुद्ध, श्रद्धान, प्रमाण यह तीन भाव कर्मास्रव का निरोध करते हैं। इन भावों से साधक जीव को अपने अनेक गुणों की पर्यायि निर्मल होती हैं, खिलती हैं। सम्यक्दृष्टि जीव अपने स्वरूप को जानकर उसकी प्रतीति कर, स्वरूपाचरण कर ऐसा अनुभव करता है कि- “मैं तो चैतन्य मात्र ज्योति हूँ ध्रुवतत्त्व शुद्धात्मा हूँ, यह कोई भी भाव क्रिया पर्याय रूप मैं नहीं हूँ और न ही यह मेरे हैं। मैं तो टंकोत्कीर्ण अप्पा-ममल स्वभावी ज्ञायक मात्र हूँ।”

६. आत्मचिंतन, उपादेय, सास्वत : तीन भाव

गाथा- ५१

चिंतनं चेतना रूपं, उपादेय सास्वतं ध्रुवं ।

जिन उक्तं सुद्ध चैतन्यं, त्रिभंगी दल निरोधनं ॥

अन्वयार्थ- (चिंतनं चेतना रूपं) चैतन्य स्वरूप का चिन्तन, आत्मचिंतन है (उपादेय सास्वतं ध्रुवं) उपादेय, शाश्वत ध्रुव तत्त्व शुद्धात्मा है (जिन उक्तं सुद्ध चैतन्यं) जिनेन्द्र परमात्मा ने कहा है कि चैतन्य स्वरूप शुद्ध, त्रिकाली, शाश्वत ध्रुव पद है (त्रिभंगी दल निरोधनं) यह तीन भाव सर्व कर्म समूह के निवारक हैं।

विशेषार्थ- जब आत्मा शुद्ध निश्चय नय का आश्रय लेता है तब जो आत्मा है वही ज्ञान है, वही दर्शन है, वही चारित्र्य है, वही शुद्ध ज्ञान चेतना है, मन के सभी विचार प्रवाह बन्द हो जाने से शाश्वत आत्मा का स्वभाव प्रगट होता है। यही स्वभाव का अनुभव मोक्ष का कारण है; इसलिए पहले मोह कर्म का क्षय होता है। जिस तरह राजा के मरने पर राजा की सेना प्रभाव रहित होकर स्वयं भाग जाती है, उसी तरह मोह-राग के क्षय होने पर शेष तीन घातिया कर्म भी क्षय हो जाते हैं। तब तीन लोक में पूज्य, अरिहन्त पद प्रगट हो जाता है, यही उपादेय है; फिर अघातिया कर्म का क्षय होने से सिद्ध पद प्रगट होता है, जो शाश्वत, त्रिकाली ध्रुव स्वभाव है। ऐसे अपने ध्रुव, शाश्वत, चैतन्य स्वरूप का चिन्तन करने से कर्मास्रव का निरोध होता है।

छटवें गुणस्थान वाले जीव को अन्तर्मुहूर्त में अपना ध्यान (निर्विकल्प अनुभूति) न आये तो वह छटवाँ-सातवाँ गुणस्थानवर्ती नहीं रहता; चौथे पाँचवें गुणस्थान में लम्बे समय के बाद निर्विकल्प अनुभव होता है परन्तु ज्ञान लब्ध रूप से तो सदा ही वर्तता है। “मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ” ऐसा भान होने पर जब अनुभव करता है तब सिद्ध समान ही आत्मा का अनुभव करता है।

सिद्ध जितना पूर्ण अनुभव तो नहीं किन्तु सिद्ध की जाति का ही अनुभव होता है। निज स्वभाव में स्थिर होता है तभी आत्मतत्त्व की अनुभूति होती है। अरिहन्त सिद्धों को जैसा अनुभव होता है वैसा धर्मी जान लेता है।

आत्मा स्वयं शुद्ध आनन्द-कन्द है, ऐसी श्रद्धा सहित अनुभव पूज्य है, वही परम है, धर्म है, जिनवाणी का सार है। आत्मशक्ति में ज्ञान व आनन्द भरा हुआ है। शक्ति के व्यक्त रूप अनुभव से ही चिदानन्द में निखार आता है। अनुभव ही भव से पार लगाता है, यही सब दोषों का नाश करता है।

सभी विभावों से उदासीन और अत्यंत शुद्ध निज पर्याय का सहजरूप से आत्मा सेवन करे, उसे श्री जिनेन्द्र भगवान ने तीव्र ज्ञान दशा कहा है। जिस दशा के आये बिना कोई भी जीव बन्धनमुक्त नहीं होता।

सत्य का ज्ञान होने के बाद मिथ्या प्रवृत्ति दूर न हो ऐसा नहीं होता; क्योंकि जितने अंश में सत्य का ज्ञान हो उतने अंश में मिथ्या भाव वृत्ति दूर हो, ऐसा जिनेन्द्र परमात्मा का निश्चय है।

जिसने आत्मा को पहिचाना है, अनुभव किया है, उसको आत्मा ही सदा समीप वर्तता है। प्रत्येक पर्याय में शुद्धात्मा ही मुख्य रहता है। विविध शुभ भाव आयें तब कहीं शुद्धात्मा विस्मृत नहीं हो जाता, अपना शाश्वत ध्रुव स्वभाव ही उपादेय रहता है, इसी से कर्मास्रव का निरोध होता है।

मोक्ष केवल एक अपने आत्मा की, पर के संयोग रहित शुद्ध अवस्था का नाम है। उसका उपाय भी निश्चय नय से एकमात्र यही है कि अपने शुद्धात्मा का अनुभव किया जावे तथा सिद्ध परमात्मा के समान अपने को माना जावे जब ऐसा बार-बार अभ्यास और साधना की जाये, अपने शुद्धात्म स्वरूप के आश्रय और अनुभव से ही आश्रव के अभाव पूर्वक मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है।

७. मति, श्रुत, अवधि न्यान: तीन भाव

गाथा- ५२, ५३, ५४

मति कमलासनं कंठं, जिन उक्तं स्वात्म चिंतनं ।
उवंकारं च विंदंते, सुद्ध मति सास्वतं ध्रुवं ॥
श्रुतस्य हृदयं चिन्ते, अचष्यु दर्शन दिस्टितं ।
उवंकारं ह्रियंकारं च, सार्धं न्यान मयं ध्रुवं ॥
मति श्रुतं च उत्पाद्यंते, अवधं चारित्र संजुतं ।
षट् कमलं त्रि उवंकारं, उदयं अवधि न्यानयं ॥

अन्वयार्थ-(मति कमलासनं कंठं) कंठ में कमलासन पर मतिज्ञान सुबुद्धि रूपी सरस्वती से (जिन उक्तं स्वात्म चिंतनं) जिनेन्द्र परमात्मा द्वारा कहे गये निज शुद्धात्म स्वरूप का चिंतन अनुभव करना (उवंकारं च विंदंते) और परमात्म स्वरूप को अनुभूति में लेना (सुद्ध मति सास्वतं ध्रुवं) यही शुद्ध अविनाशी निश्चल मतिज्ञान है।

(श्रुतस्य हृदयं चिन्ते) श्रुतज्ञान का हृदय में चिन्तन करना (अचष्यु दर्शन दिस्टितं) अचक्षु दर्शन में अपने शुद्धात्म स्वरूप को देखना (उवंकारं ह्रियंकारं च) यही परमात्म स्वरूप और अरिहंत सर्वज्ञ स्वरूप है (सार्धं न्यान मयं ध्रुवं) ऐसे अपने ज्ञान मयी ध्रुव स्वभाव को साधना, अनुभूति में लेना।

(मति श्रुतं च उत्पाद्यते) मति और श्रुत ज्ञान परिपूर्ण शुद्ध प्रगट होने पर (अवधं चारित्र संजुतं) सम्यक्चारित्र में लीनता रूप अवधिज्ञान प्रगट होता है (षट् कमलं त्रि उवकारं) षट् कमल के द्वारा ॐ हीं श्रीं की साधना करने से (उदयं अवधि न्यानयं) अवधिज्ञान प्रगट होता है।

विशेषार्थ- यहाँ आस्रव के निरोधक मति-श्रुत-अवधिज्ञान रूप तीन भावों को स्वात्मानुभव रूप बतलाया है। इसका ज्ञानपूर्वक-ध्यानपूर्वक योग साधना के माध्यम से विवेचन किया है।

मतिज्ञान- पाँच इन्द्रियों और मन के द्वारा अपनी शक्ति अनुसार जो ज्ञान होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं।

श्रुतज्ञान- मतिज्ञान के द्वारा जाने हुए पदार्थ को विशेष रूप से जानना श्रुतज्ञान है।

अवधिज्ञान- जो द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव की मर्यादा सहित इन्द्रिय या मन के निमित्त बिना रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

सम्यक्ज्ञान- सम्यक्दर्शन पूर्वक सम्यक्ज्ञान होता है। सम्यक्दर्शन कारण और सम्यक्ज्ञान कार्य है। जब सम्यक्दृष्टि जीव अपने उपयोग में युक्त होता है तब मतिज्ञान और श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष होते हैं, यह दशा चौथे गुणस्थान से होती है।

निश्चय भाव श्रुतज्ञान, शुद्धात्मा के सन्मुख होने से सुख संवित्ति ज्ञान स्वरूप है। यद्यपि यह ज्ञान निज को जानता है तथापि इन्द्रिय तथा मन से उत्पन्न होने वाले विकल्पों के समूह रहित होने से निर्विकल्प है उसे आत्मज्ञान कहते हैं।

ध्यान करने वाले को उचित है कि पहले आत्मा के व परद्रव्य के स्वरूप को यथार्थ जैसा का तैसा जाने व श्रद्धान करे, फिर परद्रव्य को अप्रयोजनभूत जानकर छोड़ दे। अपने में ही अपने को स्थापित करे। पहले शास्त्राभ्यास से अपने स्वरूप का भाव अपने में स्थापित करे और जब एकाग्र हो जावे तब कुछ चिन्तवन न करे।

गुरु महाराज श्रीमद् जिन तारण स्वामी ने अपने प्रत्येक ग्रंथ में षट् कमल का वर्णन किया है। ध्यान और योग करके षट् कमल साधना द्वारा योगी समाधिस्थ होता है।

प्रश्न - यह योगी की स्थिति क्या है ?

समाधान -योग की साधना करना, अर्थात् मन-वचन-काय की एकाग्रता पूर्वक उपयोग

का इनसे भिन्न रहना। इसके लिए श्री गुरु महाराज ने षट् कमल के माध्यम से छत्तीस अर्क की साधना की है।

प्रश्न - श्री गुरु महाराज ने योगी की षट् कमल की बात अपने ग्रंथों में लिखी है पर इसकी साधना कैसे की जाती है इसे खुलासा करके बताइये ?

समाधान- आत्मा और शरीर का एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है, दूध पानीवत् एक हो रहा है। अब इसमें मन की विशेषता है, मन की गति चंचल और बहुमुखी होती है। वह हर घड़ी चंचलता मग्न और उछल कूद में व्यस्त रहता है, इस उथल-पुथल के कारण मनुष्य का जीवन यों ही नष्ट अस्त-व्यस्त होता रहता है, यदि उस शक्ति का एकत्रीकरण हो जाता है, उसे एक स्थान पर संचित कर दिया जाता है तो आतिशी शीशे जैसी अग्नि प्रज्वलित हो सकती है। ध्यान एक ऐसा सूक्ष्म विज्ञान है, जिसके द्वारा मन की बिखरी हुई बहुमुखी शक्तियाँ एक स्थान पर एकत्रित होकर एक कार्य में लगती हैं, जिससे असाधारण शक्ति का स्रोत प्रवाहित हो जाता है। ध्यान द्वारा मन को एकाग्र कर आत्म स्वभाव की साधना की जाती है, जिससे संपूर्ण कर्म क्षय होकर केवलज्ञान परमात्म पद प्रगट होता है।

इसकी श्री गुरु महाराज ने षट् कमल के माध्यम से योग साधना की है। सभी ज्ञानी संतों ने अपने-अपने क्रम से योग ध्यान-साधना विविध प्रकार की है। अध्यात्म की दृष्टि से यह गुरु महाराज की योग ध्यान साधना-विशेष महत्वपूर्ण है।

प्रश्न- इसकी विशेषता और साधना पद्धति क्या है ?

समाधान- श्री गुरु महाराज ने षट् कमल-शरीर के विशेष महत्वपूर्ण संवेदन शील स्थानों को योग-ध्यान-साधना से खिलाया है। यह षट् कमल- गुप्त कमल, नाभि कमल, हृदय कमल, कंठ कमल, मुख कमल और विन्द कमल हैं। इन्हीं को योग वैदिक दर्शन में षट्चक्र कहा है-

मूलाधार चक्र, स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपूरक चक्र, अनाहद चक्र, विशुद्धाख्येय चक्र, आज्ञा चक्र। योग वासिष्ठ में, अष्टांग योग बताया है- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, और भी शारीरिक क्रिया के द्वारा नाना प्रकार से योग साधना की जाती है; परन्तु अध्यात्म दृष्टि से और सबका सार तथा सबसे श्रेष्ठ सबसे श्रेष्ठ आत्म स्वरूप के लक्ष्य से श्री गुरु महाराज ने षट् कमल की साधना की है जो विशेष महत्वपूर्ण है।

प्रश्न- षट् कमल की साधना का स्वरूप क्या है, उन्हें कैसे खिलाया जाता है ?

समाधान - यह साधना- ॐ या ॐ नमः सिद्धं के मंत्र जाप से की जाती है, इसमें विशेष बात यह है कि यह पूर्ण ब्रह्मचर्य और आहार-विहार की शुद्धिपूर्वक होना चाहिए। यहाँ कोई शारीरिक क्रिया नहीं होती, इसलिए पेय पदार्थ या हल्का भोजन लेना चाहिए, वरना साधना में व्यवधान पड़ सकता है।

प्रातःकाल ब्रह्म मुहूर्त में शुद्ध पवित्र होकर, सिद्धासन या पद्मासन लगाकर मेरूदण्ड को सीधा करके बैठें। नासाग्र दृष्टि रखें, ॐ या ॐ नमः सिद्धं का मानसिक जप करें। जप की इतनी तन्मयता हो जाये कि बाहर-भीतर का कोई पता न रहे। अपना परमात्म स्वरूप सिद्ध स्वरूप शुद्धं प्रकाशं शुद्धात्त्व तत्त्व ही दिखता रहे यह स्थिति बनने पर उसमें कितने समय रह सकते हैं, यह साधक को होश रहना चाहिए। जहाँ मन सक्रिय हो, वहाँ इन कमलों पर ध्यान करो।

१. गुप्त कमल- लिंग और गुदा के बीच स्थान पर छह पंखुड़ी का कमल बनाकर- छह अर्क स्थापित करो- १. कमल सी अर्क २. चरन सी अर्क ३. करन सी अर्क ४. सुवन सी अर्क ५. हंस सी अर्क ६. अवयास सी अर्क और इनका बार-बार चिंतन मनन करो।

प्रश्न- यह अर्क क्या है और इनका अभिप्राय क्या है ?

समाधान- अर्क का अर्थ प्रकाश या सूर्य है, सी का अभिप्राय श्री या श्रेष्ठ है और नाम के अनुरूप अनुभूति करना जैसे -

१. कमल सी अर्क - निज शुद्धात्म स्वरूप को कमल के समान प्रकाशित सुवासित खिला हुआ देखना और उसी के आनंद में डूबना यह कमल सी अर्क है।

२. चरन सी अर्क - स्वरूपाचरण के प्रकाश से आत्मा को प्रकाशित करने वाला, चरन सी अर्क है।

३. करन सी अर्क - आत्मा के परम पुरुषार्थ को प्रगट करने वाला करन सी अर्क है। इसमें षट्कारक के माध्यम से ध्यान होता है।

४. सुवन सी अर्क - आत्मस्वरूप को उत्पन्न करने वाला आत्मा ही है, ऐसा शाश्वत अनुभव करना सुवन सी अर्क है।

५. हंस सी अर्क - पर द्रव्यों से अपने स्वरूप को भिन्न अनुभव करने वाला स्वानुभव सम्पन्न हंस सी अर्क है।

६. अवयास सी अर्क - अपने स्वरूप के अनन्त गुणों में अवगाहन करना और इसी का बार-बार अभ्यास करना, अवयास सी अर्क है।

प्रश्न- गुप्त कमल के खिलने से क्या उपलब्धि होती है ?

समाधान- गुप्त कमल में आसन की दृढ़ता और ब्रह्मचर्य की विशेषता है। जब यह कमल खिल जाता है तो उसके चेहरे पर ब्रह्मतेज चमकने लगता है, वक्तापना आ जाता है। मनुष्यों में श्रेष्ठ, सर्व विद्याओं में पारंगत, प्रसन्न चित्त, आरोग्य और कवि बन जाता है। माया धनादि चरणों में लोटता है। इसी को वैदिक दर्शन में कुण्डलिनी जागरण कहा है। इसमें एक खतरा है कि इसमें काम की प्रबलता और माया बाधा बनती है। यदि आत्मनिष्ठ ज्ञानी है तो अपने मार्ग से आगे बढ़ता चला जायेगा। विशेष बात यह है कि योग, ध्यान, साधना में सिद्धियाँ सहज ही प्रगट होती हैं। इसमें सावधानी रखना, साधक के लिए विशेष आवश्यक है।

प्रश्न- यह सिद्धियाँ कैसी और कौन सी होती हैं ?

समाधान - जो संयम पूर्वक योग साधना, ध्यान समाधि लगाता है, उसे प्रारंभिक निम्न सिद्धियाँ होती हैं। विशेष और स्थिति बढ़ने पर होती जाती हैं, जैसे अंतर्ध्यान हो जाना, मृत्यु ज्ञान, अजेय बल, भूत भविष्य का ज्ञान, ज्योतिष आदि का ज्ञान, शुभाशुभ फल आदि जानने में आना, उक्त सिद्धियाँ साधक को अपने स्वरूप साधना में बाधा हैं। इनसे विरक्त होकर ज्ञान मार्ग प्रगट होता है। यह सिद्धियाँ संसार चक्र में फँसाने वाली बड़ी बाधाएँ अनिष्टकारी हैं। इनमें साधक को सावधान रहना चाहिए।

प्रश्न - नाभि कमल का स्वरूप क्या है ?

समाधान - इसमें साधना तो वही मंत्र जप और ध्यान की एकाग्रता करना है। विशेषता यह होती है कि गुप्त कमल के खिलने से उसका प्रकाश ऊपर उठने लगता है। नाभि कमल को गुदगुदाने लगता है। साधक इस नाभि कमल पर भी उसी प्रकार छह पंखुड़ी बनाकर १. दीप्ति सी अर्क २. सुदीप्ति सी अर्क ३. अभय सी अर्क ४. सुर्क सी अर्क ५. अर्थ सी अर्क ६. विन्द सी अर्क का जागरण करता है।

प्रश्न- इन छह अर्क का स्वरूप क्या है ?

समाधान - १. दीप्ति सी अर्क - अपने अर्क स्वभाव को त्रिकाल प्रकाशित करके देखना दीप्ति सी अर्क है।

२. सुदिप्ति सी अर्क - अपने दैदीप्यमान स्वरूप की शोभा में मग्न अभेद अनुभूति का प्रकाश करना सुदिप्ति सी अर्क है।

३. अभय सी अर्क - पूर्ण अभय स्वरूप का अनुभव कराने वाला अभय सी अर्क है।

४. सुर्क सी अर्क - अपने प्रकाश को अपने में अपने द्वारा प्रकाशित करना सुर्क सी अर्क है।

५. अर्थ सी अर्क - अपनी निधि अपने में प्रगट करना अर्थ सी अर्क है।

६. विन्द सी अर्क - निर्विकल्प समाधि में शोभायमान आत्मा का भान रखना विन्द सी अर्क है।

नाभि कमल के खिलने पर अपने आप गुदगुदी जैसी लगने लगती है। मीठा-मीठा रस सा आने लगता है, इससे अहंकारादि विकारों का नाश, श्रेष्ठ शुभ योग और मोह से निवृत्ति होती है। इसमें बाधक कारण मोह और मंदाग्नि है। पाचन शक्ति की गड़बड़ी या मोह की प्रबलता से उल्टा हो जाता है।

प्रश्न - यह साधना कितने दिन करनी पड़ती है ?

समाधान - यह तो साधक की रुचि, लगन, पुरुषार्थ के ऊपर आधारित है, वैसे सामान्य सतत् प्रयास किया जाये तो एक महीने में एक कमल की साधना सिद्ध हो जाती है।

प्रश्न - क्या साधना सिद्ध हो जाने के बाद भी कोई व्यवधान बाधा आती है ?

समाधान - हाँ, कोई विशेष अशुभ कर्म का उदय हो, तो व्यवधान बाधा हो सकती है। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि साधक को विशेष कोई बाधा नहीं आती, बल्कि और बाधाएँ दूर हो जाती हैं।

प्रश्न - अब तीसरे हृदय कमल की साधना - विशेषता बतलाईये ?

समाधान - साधना तो वही मंत्र जप की विशेषता, आसन की दृढ़ता और अधिक से अधिक समय लगाने की बात है। संसारी प्रपंच में फँसा जीव यह साधना नहीं कर सकता, अब तीसरे हृदय कमल के खिलने में दोनों कमल सहकारी बनते हैं। प्रकाश की स्फूरणाएँ उठती हैं और वह हृदय कमल को छूती हैं। इस कमल की आठ पंखुड़ियाँ होती हैं उन पर क्रमशः - नन्द सी अर्क, अगम सी अर्क, सहकार सी अर्क, रमन सी अर्क, आनन्द सी अर्क, समय सी अर्क, हियरमन सी अर्क, अलख सी अर्क इनका अभ्यास करने से हृदय कमल खिल जाता है और आनन्द का स्रोत बहने लगता है, अपने आपमें प्रसन्नता, हृदय में बड़ा आनन्द, उल्लास और खिलखिला कर हंसना, मुक्तिश्री से रमणता का अतीन्द्रिय आनन्द आता है और हमेशा

मस्ती सी रहती है।

प्रश्न - यह अर्क का स्वरूप और स्पष्ट कीजिये ?

समाधान - १. नन्द सी अर्क - स्वयं नन्द स्वरूप आत्मा की अभेद अनुभूति का अनुभव करना नन्द सी अर्क है।

२. आनन्द सी अर्क - अपने नन्द के आनन्द की श्री को प्रकाशित करने वाला प्रत्यक्ष अनुभव में आना आनन्द सी अर्क है।

३. समय सी अर्क - सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्यादि से शोभायमान स्व समय की विकल्प रहित, स्वानुभूति करना समय सी अर्क है।

४. हिय रमन सी अर्क - अपने हृदय में आत्मीक आनन्द में रमण करना हिय रमन सी अर्क है।

५. अलख सी अर्क - चर्म चक्षु से अगोचर स्वरूप को ज्ञान दृष्टि में लखाने वाला अलख सी अर्क है।

६. अगम सी अर्क - जड़ और पर पदार्थों से परे अपने आपको अपनी सामर्थ्य से युक्त पाना अगम सी अर्क है।

७. सहयार सी अर्क - सहृदयता से अपने रस का रसिक अपने में आनन्दित मस्त रहना सहयार सी अर्क है।

८. रमन सी अर्क - अपने ध्रुव तत्त्व, ममल स्वभाव में मुक्ति श्री से रमण करना रमन सी अर्क है।

इसके खिलने पर तो आनन्द ही आनन्द है, इससे बड़ा उत्साह बढ़ता है। अपना स्वामित्व, स्वाभिमान जागता है। इसमें मन और राग बाधक है क्योंकि मन, हृदय और कंठ के बीच में रहता है, जो हृदय को खिलने खुलने नहीं देता, कोई बात हृदय में इसलिए नहीं बैठती तथा कंठ से सत्य को बोलने स्वीकार करने नहीं देता और यह साधक की राग की भूमिका होती है इसलिए इसमें राग भी बड़ी बाधा डालता है, शान्त स्थिर नहीं रहने देता, यहाँ बड़ी शक्ति लगाना पड़ती है।

प्रश्न - चौथे कंठ कमल का स्वरूप बतलाईये ?

समाधान - कंठ कमल चार पंखुड़ियों का होता है, इन पर - सुइरंज सी अर्क, सुइ उवन सी अर्क, षिपन सी अर्क, और ममल सी अर्क की साधना, अभ्यास किया जाता है। इसके सिद्ध

होने पर तो आनंद ही आनंद बरसता है। कंठ कमल खिलने पर वचन सिद्धि, स्वामित्व योग सिद्धि, ज्ञान जागरण और इन्द्रिय जय होता है।

प्रश्न- यह चार अर्क का स्वरूप बताइये ?

समाधान- १. सुइ रंज सी अर्क - अतीन्द्रिय स्वभाव में रंजायमान करने वाला, अपने ज्ञायक भाव का स्वयं प्रगट रहना, सुई रंज सी अर्क है।

२. सुइ उवन सी अर्क - अपने स्वरूप की अनुभूति में रत रहना, अज्ञान अंधकार का विलय होना, ज्ञान सूर्य की प्रगटता, सुइ उवन सी अर्क है।

३. षिपन सी अर्क - अपने क्षायिक भाव की सामर्थ्य को प्रगट करने वाला, दुढ़ता और अभयपना आना षिपन सी अर्क है।

४. ममल सी अर्क - अपने ममल स्वभाव का दर्शन होना और उसी के प्रकाश में आनन्दित रहना, ममल सी अर्क है।

इस साधना की सिद्धि होने पर कण्ठ कमल खिल जाता है। इसमें शुभ राग, धर्म प्रभावना, प्रसिद्धि आदि बाधक होते हैं।

प्रश्न- अब आगे के पाँचवें कमल का स्वरूप भी बताइये ?

समाधान- पाँचवां मुख कमल है। इसकी साधना भी उसी प्रकार योग-ध्यान साधना से की जाती है। इसकी छह पंखुड़ी होती हैं, उन पर- विक्त सी अर्क, सुइ समै सी अर्क, सुनंद सी अर्क, हियार सी अर्क, जान सी अर्क और जैन सी अर्क की साधना अभ्यास किया जाता है। मुख कमल खिलने पर तो गजब का आनन्द आता है। जो साधक वर्तमान में होशपूर्वक जीने लगा, उसका ही मुख कमल खिलता है। इसकी साधना का अभ्यास क्रम गुरु महाराज ने चौबीस ठाणा से शुरू किया था। मुख कमल खिलना अर्थात् साधु दशा, शान्त प्रसन्न आनन्द में रहना, फिर इसे कोई संकल्प-विकल्प, भय-चिन्ता होते ही नहीं हैं। हमेशा हँसमुख प्रसन्न रहता है। इसकी विशेषताये हैं - चित्त शान्ति, अवधिज्ञान का जागरण, तेजस्विता, सर्व हित परायणता, आनन्द मय जीवन। इसका बाधक कारण एक ही है - प्रभावना प्रसिद्धि, जहाँ इसमें फँसे कि बाधा उत्पन्न हुई क्योंकि इतनी सिद्धियाँ होने पर यह अपने आप होती है।

प्रश्न- आसन की दुढ़ता से क्या होता है ?

समाधान- आसन की दुढ़ता से ही मन-वचन-काय एकाग्र होते हैं। आसन की सिद्धि होने पर शरीर में सर्दी-गर्मी आदि द्रव्यों का प्रभाव नहीं पड़ता इसी से संयम की सही स्थिति बनती

है।

प्रश्न- अब इन छह अर्कों का स्वरूप बताइये ?

समाधान- १. विक्त सी अर्क - अपने शुद्ध स्वरूप को व्यक्त प्रगट प्रत्यक्ष देखना विक्त सी अर्क है।

२. सुइ समै सी अर्क - अज्ञान के अंधेरे से बचाने वाला, प्रकाश स्वरूप स्व समय शुद्धात्मा की अनुभूति सुइ समै सी अर्क है।

३. सुनंद सी अर्क - सहज स्वभाव में ही सहजानन्द है। उसकी सहज अनुभूति सहजानन्द में रहना सुनंद सी अर्क है।

४. हियार सी अर्क - आत्मानुभूति से प्रकाशित हृदय कमल का आनंद मुख कमल पर झलकना हियार सी अर्क है।

५. जान सी अर्क - जिन पद से सुशोभित आत्मा का ज्ञान पूर्वक अनुभव करना जान सी अर्क है।

६. जैन सी अर्क - (जिन सी अर्क) ज्ञान लक्ष्मी से शोभायमान शुद्धात्म स्वरूप जिन स्वभाव का प्रकाश होना जैन सी अर्क है।

इनकी साधना और अभ्यास से मुख कमल खिलता है तो जय जयकार मचती है; फिर उसे संसार से कोई प्रयोजन ही नहीं रहता, यह पर्यायावरण से ऊपर उठने की स्थिति है।

प्रश्न- यह सब तो साधु पद की अनुभूतियाँ हैं, यह साधक दशा में कैसे होंगी ?

समाधान- जब साधक को यह अनुभूतियाँ होती हैं तभी वह साधु और सिद्ध होता है। यह ज्ञान पूर्वक सविकल्प ध्यान साधना है, जब निर्विकल्प स्थिति बने वही साधु है।

प्रश्न- इस साधना में अभ्यास का क्या अभिप्राय है ?

समाधान- अभ्यास और वैराग्य से चित्तवृत्तियों का निरोध होता है। जो स्वभाव से चंचल है, ऐसे मन को किसी एक ध्येय, लक्ष्य पर स्थिर करने के लिए बारम्बार चेष्टा करते रहने का नाम अभ्यास है। जैसे तत्व का अभ्यास, मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ भावना का अभ्यास, निज स्वरूप की अनुभूति का अभ्यास, वीतरागता की भावना का अभ्यास, इनका निरन्तर अभ्यास करने से लक्ष्य की प्राप्ति होती है। जब तक अभ्यास है वह साधक दशा है, स्थायी होने पर साधु और सिद्ध है।

प्रश्न- अब छटवें विन्द कमल का स्वरूप बताईये ?

समाधान-छटवें विन्द कमल की अपूर्व विशेषता महा महिमा है। यह दोनों आँखों के बीच, भूमध्य पर जहाँ तिलक लगाते हैं, यह विन्द कमल है। इसमें साधक की एकाग्रता, निराकुलता, निःशल्यता, निश्चिन्तता होना आवश्यक है। कोई भी शल्य विकल्प न हो, आसन की और दृष्टि की एकाग्रता दृढ़ता आवश्यक है। इसमें भी वही मंत्र जप के माध्यम से मन को एकाग्र करना और विन्द कमल में प्रतिष्ठित करना, इसकी भी छह पंखुड़ी होती हैं। जिसमें - लखन सी अर्क, लीन सी अर्क, भद्र सी अर्क, मै उवन सी अर्क, सहज सी अर्क और पै उवन सी अर्क की साधना की जाती है, इस विन्द कमल की साधना सिद्ध होने पर जय जयकार मच जाती है। साधक परम शान्ति के सागर में निमग्न हो जाता है। इसकी विशेषताएँ अपूर्व हैं, जैसे भौंह मध्य हमेशा शान्त और शीतल रहता है। इस कमल में सदैव ओला, बर्फ जैसी शान्त शीतल लहरें निकलती रहती हैं। जिससे साधक हमेशा शान्त आनन्द में प्रसन्न रहता है, सर्वार्थसिद्धि हो जाती है। यह साधक जिस भाव से जिसकी तरफ दृष्टि उठाकर देख ले, वैसा ही सब हो जाता है। जैसे भाव करता है वैसा ही सब होता है। इसके नेत्रों में संमोहन जैसी स्थिति हो जाती है। इसमें बाधक कारण सिद्धियाँ हैं, सिद्धियों में फँसने पर स्थिति बिगड़ जाती है।

प्रश्न- यह छह अर्क का स्वरूप बताईये ?

समाधान- १. लखन सी अर्क - अपने आत्मा के असाधारण गुणों को प्रगट प्रत्यक्ष देखना, अनुभव करना लखन सी अर्क है।

२. लीन सी अर्क - पर द्रव्य और पर भावों से अपने उपयोग को हटाकर अपने ध्रुव स्वभाव में स्थिर करना लीन सी अर्क है।

३. भद्र सी अर्क - भद्रता, भव्यता मोक्षमार्ग की योग्यता से युक्त स्वानुभूति का प्रकाश भद्र सी अर्क है।

४. मै उवन सी अर्क - निर्विकल्प समाधि की स्थिति होना मै उवन सी अर्क है।

५. सहज सी अर्क - अपने परिपूर्ण सहज स्वभाव की स्वानुभूति से सुशोभित होना सहज सी अर्क है।

६. पै उवन सी अर्क - अपने परिपूर्ण सत्य ध्रुव प्रमाण स्वरूप का अनुभव करके

उसमें प्रतिष्ठित होना पै उवन सी अर्क है।

बस यही साधु पद की स्थिति है, इसके बाद ब्रह्म कमल की साधना करके सिद्ध, मुक्त, निर्वाण हो जाता है। साधना की अपेक्षा मतिज्ञान को कंठकमल में और श्रुतज्ञान को हृदय कमल में बताया गया है।

मतिज्ञान की भावना - कण्ठ में कमल चिन्तवन करें। उस कमल के मध्य में ॐ मंत्र को चमकता हुआ विराजमान करें व उसके द्वारा शुद्धात्मा के स्वरूप की भावना भायें। स्वात्मानुभव का प्रकाश होना सम्यग्दर्शन सहित यथार्थ मतिज्ञान है। यहाँ मति नाम मनन के लिए है।

श्रुतज्ञान की भावना - हृदय कमल में ॐ हीं मंत्र की स्थापना करके उसके द्वारा ज्ञानमयी शुद्धात्मा की भावना भायें, जिससे अतीन्द्रिय आत्मा में स्थिरता हो जाए स्वसंवेदन हो जाए, यही श्रुतज्ञान है। द्वादशांग श्रुतज्ञान का भाव यही है कि शुद्धात्मा का अनुभव हो जावे। श्रुत का अभिप्राय अनुभव ज्ञान है।

अवधिज्ञान की भावना - सम्यक्चारित्र से अवधिज्ञान का भाव होता है। षट्कमल में ॐ हीं श्रीं स्वरूप शुद्धात्मा का चिन्तवन करते हुए जब अपने आत्मस्वरूप में स्थिरता हो जाए तब अवधिज्ञान का प्रकाश होता है। षट्कमल का जागरण ध्यान शक्ति के द्वारा किया जाता है, यह सभी जानते हैं कि हमारा मस्तिष्क एक प्रकार का बिजलीघर है और उस बिजली की प्रमुख धारा का नाम 'मन' है। मन की गति चंचल और बहुमुखी होती है। वह हर घड़ी चंचल और उछल-कूद में व्यस्त रहता है। इस उथल-पुथल के कारण उस विद्युत पुंज का एक स्थान पर केन्द्रीकरण नहीं होता, जिससे कोई महत्वपूर्ण कार्य सम्पादन हों। इसके अभाव में जीवन के क्षण ऐसे ही नष्ट होते रहते हैं। यदि उस शक्ति का एकत्रीकरण हो जाता है, उसे एक स्थान पर संचित कर दिया जाता है तो आतिशी शीशे द्वारा आग की लपटें उठने लगना, जैसे दृश्य उपस्थित हो जाते हैं।

ध्यान एक ऐसा सूक्ष्म विज्ञान है जिसके द्वारा मन की बिखरी हुई बहुमुखी शक्तियाँ एक स्थान पर एकत्रित होकर एक कार्य में लगती हैं। फल स्वरूप यहाँ असाधारण शक्ति का स्रोत प्रवाहित होता है। ध्यान द्वारा मनः क्षेत्र की केन्द्रीभूत इस बिजली से, साधक षट्चक्रों का वेधन कर सकता है।

इस प्रकार ज्ञान, ध्यान, योग, साधना द्वारा साधक इन भावों से कर्माग्न का निरोध करता है।

८. रिजु विपुल, मनपर्जय, केवल स्वरूप : तीन भाव

गाथा-५५-५६

मति श्रुत अवधिं चिंते, रिजु विपुलं च जानु स्तितं ।

स्वात्म दर्शनं न्यानं, सुचरनं मन पर्जयं ॥

चत्रु न्यानं च एकत्वं, केवलं पदमं ध्रुवं ।

अनन्तानन्त दिस्टंते, सुद्धं संमिक् दर्शनं ॥

अन्वयार्थ- (मति श्रुत अवधिं चिंते) ऊपर कहे प्रमाण अध्यात्म दृष्टि से मति, श्रुत व अवधिज्ञान का चिन्तन करते हुए (रिजु विपुलं च जानु स्तितं) साधक रिजुमति और विपुल मति में स्थित भावना भाता है (स्वात्म दर्शनं न्यानं) जब अपने ही आत्मा का सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान हो (सुचरनं मन पर्जयं) सम्यक्चारित्र्य हो, ऐसा स्वात्मानुभव हो, वहीं मनः पर्यय ज्ञान है।

(चत्रु न्यानं च एकत्वं) चार ज्ञान तक एक साथ होते हैं (केवलं पदमं ध्रुवं) केवलज्ञान एक ही होता है जो परम ध्रुव स्वभाव है (अनन्तानन्त दिस्टंते) केवलज्ञान में अनन्तानन्त पदार्थ, लोकालोक झलकता है (सुद्धं संमिक्दर्शनं) तब ही शुद्ध प्रत्यक्ष परमावगाढ़ सम्यक्दर्शन होता है, जो आत्मा का स्वरूप है।

विशेषार्थ- आत्मा, स्वभाव से ऋजु है, सरल है, शांत-सहज स्वभावी विशाल गम्भीर है। अनन्तानन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुखादि गुणों का धारी है। जहाँ रत्नत्रय की एकता रूप निर्विकल्प ध्यान होता है, वह वचन अगोचर, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष एकऐसा मोक्ष साधक भाव है जो केवलज्ञान का साधक है। जिसमें मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय ज्ञान समा गये हैं, ऐसा ज्ञान आस्रव का निरोधक है। स्वानुभव से प्राप्त केवलज्ञान भी आस्रव निरोधक है क्योंकि वहाँ सभी विश्व को जानते हुए भी वीतरागता है। केवलज्ञान के होने पर सम्यग्दर्शन शुद्ध व परमावगाढ़ हो जाता है।

मनः पर्यय ज्ञान- जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, की मर्यादा सहित इन्द्रिय अथवा मन की सहायता के बिना ही दूसरे पुरुष के मन में स्थित रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है उसे मनः पर्यय ज्ञान कहते हैं। यह ऋजुमति और विपुलमति के भेद से दो प्रकार का है।

ऋजुमति- मन में चिंतित पदार्थ को जानता है, अचिन्तित पदार्थ को नहीं और वह भी सरल रूप से चिंतित पदार्थ को जानता है।

विपुलमति- चिंतित और अचिंतित पदार्थ को तथा वक्र चिंतित और अवक्र चिंतित पदार्थ को भी जानता है।

मनः पर्यय ज्ञान विशिष्ट संयमधारी को होता है। विपुल का अर्थ विस्तीर्ण विशाल गंभीर होता है।

केवलज्ञान- समस्त द्रव्य और उनकी सभी पर्यायों को अक्रम से एक ही काल में जानता है। केवलज्ञान में ऐसी शक्ति है कि अनन्तानन्त लोक अलोक हों तो भी उन्हें जानने में केवलज्ञान समर्थ है।

एक जीव को एक साथ एक से लेकर चार ज्ञान तक हो सकते हैं। यदि एक ज्ञान हो तो केवलज्ञान होता है, दो हों तो मति और श्रुतज्ञान होते हैं, तीन हों तो मति-श्रुत और अवधि अथवा मनः पर्यय ज्ञान होते हैं, चार हों तो मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय ज्ञान होते हैं। एक ही साथ पाँच ज्ञान किसी को नहीं होते और एक ही ज्ञान एक समय में उपयोग रूप होता है। केवलज्ञान के प्रगट होने पर वह सदा के लिए बना रहता है, दूसरे ज्ञानों का उपयोग अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त होता है, उससे अधिक नहीं होता, उसके बाद ज्ञान के उपयोग का विषय बदल ही जाता है। केवली के अतिरिक्त सभी संसारी जीवों के कम से कम दो अर्थात् मति और श्रुतज्ञान अवश्य होते हैं। क्षायोपशमिक ज्ञान क्रमवर्ती है। एक काल में एक ही प्रवर्तित होता है किन्तु यहाँ जो चार ज्ञान एक ही साथ कहे हैं सो चार का विकास एक ही समय में होने से चार ज्ञानों की जानने रूप लब्धि एक काल में होती है यही कहने का तात्पर्य है। उपयोग तो एक काल में एक ही स्वरूप होता है। आत्मा वास्तव में परमार्थ है और वह ज्ञान है। आत्मा स्वयं एक ही पदार्थ है इसलिए ज्ञान भी एक ही पद है। यह ज्ञान नामक एक पद, परमार्थ स्वरूप साक्षात् मोक्ष का उपाय है। इन सूत्रों में ज्ञान के जो भेद कहे हैं वे इस एक पद का अभिनन्दन करते हैं, शुद्धात्मा की महिमा को प्रशस्त करते हैं। ज्ञान के हीनाधिक रूप भेद उसके सामान्य ज्ञान स्वभाव को नहीं भेदते किन्तु अभिनन्दन करते हैं, इसलिए जिसमें समस्त भेदों का अभाव है ऐसे आत्मस्वभाव भूत ज्ञान का ही आलम्बन करना चाहिए अर्थात् ज्ञान स्वरूप आत्मा का ही आलम्बन करना चाहिए, ज्ञानस्वरूप आत्मा के अवलम्बन से ही निम्न प्रकार की प्राप्ति होती है -

१. निज पद की प्राप्ति होती है, २. भ्रांति का नाश होता है, ३. आत्मा का लाभ होता है, ४. आत्मा का परिहार सिद्ध होता है, ५. भावकर्म बलवान नहीं हो सकता, ६. राग-

द्वेष-मोह उत्पन्न नहीं होते, ७. पुनः कर्म का आस्रव नहीं होता, ८. पुनः कर्म नहीं बंधता, ९. पूर्वबद्ध कर्म भोगा जाने पर निर्जरित हो जाता है, १०. समस्त कर्मों का अभाव होने से साक्षात् मोक्ष होता है, ज्ञान स्वरूप आत्मा के आलम्बन की ऐसी महिमा है।

ज्ञानी को यथार्थ द्रव्य दृष्टि प्रगट हुई है। वह द्रव्य स्वभाव के आलम्बन द्वारा अन्तर स्वरूप स्थिरता में वृद्धि करता जाता है; परन्तु जब तक अपूर्ण दशा है, पुरुषार्थ मन्द है, पूर्णरूप से शुद्ध स्वरूप में स्थिर नहीं हो सकता तब तक वह शुभ परिणाम में संयुक्त होता है किन्तु वह उन्हें आदरणीय नहीं मानता है, उनकी स्वभाव में नास्ति है; अतएव दृष्टि उनका निषेध करती है। ज्ञानी पुरुष को जो ज्ञान भाव वर्तता है, वह निज स्वभाव में स्थिति का होता है इसी से कर्मास्रव का निरोध होता है।

ज्ञानी होना ही संसार के दुःखों से छूटना और मुक्ति प्राप्त करने का उपाय है, अज्ञान दशा में ही अनादि से चार गति चौरासी लाख योनियों का भव भ्रमण किया है। यह अवसर सम्यक्ज्ञान पूर्वक कर्मों की निर्जरा कर मुक्ति को प्राप्त करने के लिये मिला है।

९. स्वस्वरूप -मूल, अन्या, वेदक : तीन भाव

१०. उपसम, ष्याइक, सुध : तीन भाव

गाथा-५७

स्वस्वरूपं सुद्ध दर्वार्थ, अन्या वेदक उवसमं ।

ष्याइकं सुद्ध ध्रुवं चिंते, कर्मादि मल मुक्तयं ॥

अन्वयार्थ-(स्वस्वरूपं सुद्ध दर्वार्थ) अपना स्वरूप शुद्ध द्रव्य, सिद्ध के समान शुद्ध परमात्म स्वरूप है ऐसा अनुभूति में आना मूल सम्यक्त्व है (अन्या वेदक उवसमं) यही आज्ञा वेदक उपशम सम्यक्त्व है (ष्याइकं सुद्ध ध्रुवं चिंते) ध्रुव स्वभाव का दृढ़ श्रद्धान क्षायिक सम्यक्त्व और शुद्ध सम्यक्त्व है ऐसा चिन्तन करने से (कर्मादि मल मुक्तयं) कर्मादि मल से मुक्त हो जाता है।

विशेषार्थ- सम्यग्दर्शन आत्मा का एक ऐसा गुण है जो केवल अनुभव गम्य है। स्वानुभूति के साथ इसका अविनाभावी सम्बन्ध है। अपने आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद बिना सम्यक्त्व के नहीं आ सकता।

सम्यग्दर्शन के अन्तरंग कारण- निकट भव्यता, सम्यक्त्व के प्रतिबन्धक मिथ्यात्व आदि कर्मों का यथायोग्य उपशम, क्षय, क्षयोपशम, उपदेश आदि को ग्रहण कर सकने की

योग्यता, संज्ञित्व और परिणामों की शुद्धता।

सम्यग्दर्शन का बहिरंग कारण- सदगुरुओं का उपदेश आदि।

सबसे प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट होता है- जब काल लब्धि आदि के योग से भव्यत्व शक्ति की प्रगटता होती है, तब यह जीव सहज शुद्ध पारिणामिक भाव रूप निज परमात्म द्रव्य के सम्यक्श्रद्धान, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् अनुचरण रूप पर्याय से परिणत होता है। इस परिणमन को आगम की भाषा में औपशमिक भाव या क्षायोपशमिक भाव या क्षायिक भाव कहते हैं।

भव्य जीव क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धि लब्धि, देशना लब्धि और प्रायोग्य लब्धि को प्राप्त करके तीन करण द्वारा करण लब्धि करता है। करण लब्धि होने पर सम्यक्त्व नियम से होता है।

कर्मों से बद्ध भव्य जीव अर्धपुद्गल परावर्तन प्रमाण काल शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व के योग्य होता है क्योंकि एक बार सम्यक्त्व होने पर जीव इससे अधिक समय तक संसार में नहीं रहता, इसे ही काल लब्धि कहते हैं।

भेदज्ञान द्वारा शरीरादि से भिन्न अपने आत्मस्वरूप की अनुभूति युत यथार्थ प्रतीति होना सम्यग्दर्शन है। यहाँ सम्यक्त्व के छह भेद रूप भाव कहे गये हैं :-

१. मूल सम्यक्त्व- चारों गतियों में से किसी भी गति वाला भव्य, संज्ञी, पर्याप्तिक, मन्दकषायी, ज्ञानोपयोगयुक्त, जागता हुआ, शुभ लेश्या वाला तथा करण लब्धि से सम्पन्न जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। निज शुद्धात्मानुभूति होना मूल सम्यक्त्व है।

जिस जीव में मोक्ष प्राप्ति की योग्यता है उसे भव्य कहते हैं और सम्यक्त्व ग्रहण करने की योग्यता को लब्धि कहते हैं ।

२. आज्ञा सम्यक्त्व- जिनवाणी की आज्ञानुसार आत्मा व अनात्मा के तत्त्वों का निश्चय होना तथा दर्शन मोह के उपशम में जिन वचन पर श्रद्धान होना आज्ञा सम्यक्त्व है।

३. वेदक सम्यक्त्व- सम्यक्दर्शन का एकदेश घात करने वाली देशघाती सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से तथा उदय प्राप्त मिथ्यात्व आदि छह प्रकृतियों के उदय की निवृत्ति होने पर और आगामी काल में उदय होने वाली उन्हीं छह प्रकृतियों का सदवस्था रूप उपशम होने पर वेदक अर्थात् क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। इस सम्यक्त्व में चल, मलिन और अगाढ़पना होता है।

४. उपशम सम्यक्त्व- आत्मा, परमात्मा का भेद विचारते हुए परिणाम ऐसे निर्मल हो जाते

हैं कि उसके प्रताप से अनन्तानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व की प्रकृतियों का एक समय के लिए उपशम हो जाता है तब उपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

५. क्षायिक सम्यक्त्व- क्षायिक सम्यक्त्व प्रगट होकर पुनः लुप्त नहीं होता सदा रहता है क्योंकि उसके प्रतिबन्धक मिथ्यात्व आदि कर्मों का क्षय हो जाता है। इसी से शंका आदि दोष नहीं होने से वह औपशमिक सम्यग्दर्शन से अतिशुद्ध होता है। कभी भी, किसी कारण से उसमें क्षोभ पैदा नहीं होता। भयंकर रूप से, हेतु और दृष्टान्त पूर्वक वचन विन्यास से क्षायिक सम्यक्त्व कभी डगमगाता नहीं है, निश्चल रहता है। अनुभूति युत दृढ़ श्रद्धान को क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं।

६. शुद्ध सम्यक्त्व- निज शुद्धात्मानुभूति की निश्चय प्रतीति शुद्ध सम्यक्त्व है। जो सम्यग्दर्शन को अच्छी तरह से सिद्ध कर चुके हैं, उन्हें ही शुद्ध सम्यक्त्व होता है। उनकी विपत्ति भी सम्पत्ति हो जाती है। इसी के प्रसाद से मुक्ति की प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शन कारण है, सम्यक्ज्ञान कार्य है।

अधिक कहने से क्या ? अतीत में जो नरश्रेष्ठ मुक्त हुए हैं और भविष्य में जो मुक्त होंगे, वह सब सम्यक्त्व का ही माहात्म्य जानो। सम्यक्त्व रूपी रत्न, मुक्ति रूपी लक्ष्मी को आकृष्ट करने वाला है क्योंकि सम्यक्दृष्टि ही मुक्ति लक्ष्मी का वरण करता है। शुद्ध आत्म द्रव्य में विश्रान्ति ही परमार्थ से सिद्ध भक्ति है उसी से निर्वाण पद प्राप्त होता है।

तत्त्वों को भले प्रकार से जानने वाला व अपने आत्मा के यथार्थ स्वरूप का श्रद्धान करने वाला सम्यक्दृष्टि जीव इन्द्रियों के भोगों से प्राप्त सुख में व इन्द्रियजन्य ज्ञान में राग-द्वेष नहीं करता, समभाव रखता है, अतीन्द्रिय ज्ञान व अतीन्द्रिय आनन्द का प्रेमी हो जाता है।

सम्यग्दर्शन के होने पर ही अपने आत्मा का अनुभव रूप विशेष आत्मज्ञान होता है। सम्यक्त्व के होने पर ही आत्मानुभूति होती है।

सम्यक्दृष्टि को यह श्रद्धा रहती है कि सम्यग्दर्शन ही सच्चा धर्म है या शुद्धात्मा का अनुभव सच्चा धर्म है। उस धर्म का फल घातिया कर्मों के नाश से होने वाला क्षायिक अतीन्द्रिय अनन्त सुख का लाभ है। ज्ञानी जानता है कि देहादि रूप में नहीं हूँ यही ज्ञान मोक्ष का बीज है।

जब अंतरंग में ज्ञान और रागादि का भेद करने का तीव्र अभ्यास करने से भेदज्ञान प्रगट होता है तब यह ज्ञान होता है कि ज्ञान का स्वभाव तो मात्र जानने का ही है, ज्ञान में जो रागादि की कलुषता संकल्प-विकल्प भासित होते हैं वे सब पुद्गल विकार हैं।

मोह रूप संकल्प तथा राग-द्वेष रूप विकल्प यह सब जीव के अज्ञान भाव हैं। यह जीव अपनी इस भूल के कारण ही कर्म बन्ध करता है यदि वह अपने स्वरूप का सही बोध कर ले और किसी भी पदार्थ में राग-द्वेष की भावना न करे तो, अज्ञान चेतना रहित ज्ञान चेतना सहित वह ज्ञानी है। उस समय उसकी यह परिणति ज्ञानमय परिणति है इस ज्ञानमय परिणति के होने पर जीव दोनों प्रकार के आस्रव अभाव कर निरास्रवदशा को प्राप्त करता है।

११ . पदस्थ , पिण्डस्थ, रूपस्थ : तीन भाव

१२ . रूपातीत, अन्या, अपाय : तीन भाव

१३ . विपाक, संस्थान, शुक्लध्यान : तीन भाव

गाथा-५८, ५९, ६०

पदस्थं सुद्ध पदं सार्धं , सुद्ध तत्त्व प्रकासकं ।

पिण्डस्थ न्यान पिण्डस्थ, स्वात्म चिंता सदा बुधै ॥

रूपस्थं सर्व चिद्रूपं, रूपातीतं विक्त रूपयं ।

स्व स्वरूपं च आराध्यं, धर्म चक्रं न्यान रूपयं ॥

धर्म ध्यानं च संजुक्तं, औकास दान समर्थयं ।

अन्या पाय विचय धर्म, सुक्ल ध्यानं स्वात्म दर्शनं ॥

अन्वयार्थ-(पदस्थं सुद्ध पदं सार्धं)शुद्ध पद अर्थात् सिद्ध पद का श्रद्धान और साधना ही पदस्थ ध्यान है (सुद्ध तत्त्व प्रकासकं) इससे शुद्ध तत्त्व अर्थात् शुद्धात्मा का प्रकाश होता है (पिण्डस्थ न्यान पिण्डस्थ) मैं ज्ञान का पिण्ड अपने ज्ञान स्वभाव में स्थित हूँ यह पिण्डस्थ ध्यान है (स्वात्म चिंता सदा बुधै) ज्ञानीजन हमेशा ऐसे अपने आत्मस्वरूप का चिन्तन करते हैं।

(रूपस्थं सर्व चिद्रूपं) अपना स्वरूप सर्व चैतन्यमयी चिद्रूप है, ऐसा ध्यान

रूपस्थ ध्यान है (रूपातीतं विक्त रूपयं) रूपी पदार्थ पुद्गल से भिन्न “ मैं अरूपी सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा हूँ ” ऐसा ध्यान रूपातीत ध्यान है (स्व स्वरूपं च आराध्यं) ऐसे अपने आत्म स्वरूप की आराधना करना (धर्म चक्रं न्यान रूपयं) यही ज्ञान रूपी धर्म चक्र है जिससे कर्मों का विध्वंस होता है।

(धर्म ध्यानं च संजुक्तं) ऐसे धर्म ध्यान में लीन होने से (औकास दान समर्थयं) आत्मा, आत्मा को आत्मा का दान देने में समर्थ होता है अर्थात् आत्म शक्ति का जागरण होता है (अन्या पाय विचय धर्म) आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय, संस्थान विचय यह धर्मध्यान के चार भेद होते हैं (शुक्ल ध्यानं स्वात्म दर्शनं) स्वात्मा का दर्शन निज शुद्धात्मानुभूति शुक्ल ध्यान है।

विशेषार्थ-आत्मध्यान की अग्नि से ही कर्मों को भस्म किया जाता है। यहाँ धर्म ध्यान के अन्तर्गत पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ, रूपातीत ध्यान तथा आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय, संस्थान विचय द्वारा स्वस्वरूप का चिन्तन करने की प्रेरणा दी गई है, इससे आत्मशक्ति जाग्रत होती है। पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती है, कर्मास्रव का निरोध होता है तथा शुक्ल ध्यान से कर्म क्षय होकर केवलज्ञान परमात्म पद की प्राप्ति होती है। धर्मध्यान सविकल्प दशा है, इसमें स्वरूप का स्मरण ध्यान और आंशिक स्थिरता होती है। शुक्ल ध्यान निर्विकल्प दशा है, इसमें स्वात्म दर्शन और स्वरूप स्थिरता होती है जिससे केवलज्ञान प्रगट होता है।

धर्मध्यान के चार भेद हैं -

१. आज्ञा विचय- आगम की प्रमाणता से अर्थ का विचार करना। जिनेन्द्र भगवान की आज्ञानुसार जीवादि तत्वों को जानकर, पर से भिन्न आत्मा के स्वरूप का विचार करना। साधक दशा का विचार-“ मैं वर्तमान आत्मशुद्धि की जिस भूमिका में वर्तता हूँ ”, उसी का स्वसन्मुखता पूर्वक विचार करना आज्ञाविचय धर्म ध्यान है।

२. अपाय विचय-संसारी जीवों के दुःख और उससे बचने के उपाय का विचार करना तथा अपनी कमजोरी, कर्मबन्ध के कारणों का विचार करना। अभी अपने में कितने अंश में सरागता, कषाय कण विद्यमान हैं? मेरी कमजोरी ही विघ्न रूप है, रागादि ही दुःख के कारण हैं, ऐसे भावकर्म रूप, बाधक भावों का विचार करना अपायविचय धर्म ध्यान है।

३. विपाक विचय-अपनी व दूसरे प्राणियों की अच्छी या बुरी अवस्थाओं को देखकर

कर्मों के उदय को विचारना। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के कारण जो कर्मों के फल का अनुभव होता है, उसका चिन्तन करना। द्रव्यकर्म के विपाक का विचार तथा अपनी भूल रूप मलिन भावों में कर्मों का निमित्त मात्र रूप सम्बन्ध जानकर स्वसन्मुखता के बल को संभालना, और जड़ कर्म किसी को लाभ-हानि करने वाला नहीं है, ऐसा विचार विपाक विचय धर्म ध्यान है।

४. संस्थान विचय- तीन लोक का आकार विचारना। जीवों के स्थान व सिद्ध क्षेत्र को विचारना। मेरे शुद्धात्म द्रव्य का प्रगट निरावरण संस्थान आकार पुरुषार्थ से कैसे प्रगट हो? शुद्धोपयोग की पूर्णता सहित, स्वभाव व्यंजन पर्याय का, स्वयं स्थिर शुद्ध आकार कब प्रगट होगा ऐसा विचार करना तथा स्वसन्मुखता के बल से जितनी आत्म परिणामों की शुद्धता हो, उसे संस्थान विचय धर्म ध्यान कहते हैं।

अपने शुद्ध स्वभाव में जो एकाग्रता है वही निश्चय धर्म ध्यान है। जिसमें क्रियाकाण्ड के सर्व आडम्बरों का त्याग है। ऐसी अन्तरंग क्रिया के आधार रूप जो आत्मा है उसे मर्यादा रहित, तीनों काल के कर्मों की उपाधि रहित निज स्वरूप से जानता है। वह ज्ञान की विशेष परिणति या जिसमें आत्मा स्वाश्रय से स्थिर होता है सो निश्चय धर्म ध्यान है और यही संवर-निर्जरा का कारण है।

इसमें चार प्रकार का ध्यान होता है -

१. पदस्थ ध्यान-व्यवहार से चित्त की एकाग्रता, मन को शान्त करने के लिये एक कमल हृदय में विचारें। उसकी आठ पंखुड़ियों पर क्रम से- णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं, सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यग्चारित्र्याय नमः ऐसे आठ पद विचार कर ध्यावें। चन्द्रमा के समान चमकते हुए उँ को नासिका के अग्रभाग, मस्तक या हृदय में स्थापित कर ध्यावें, यह सब पदस्थ ध्यान है। निश्चय से अपना शाश्वत सिद्ध पद जो शुद्ध स्वभाव है उसका ध्यान करना, यह पदस्थ ध्यान है इससे शुद्ध तत्व का प्रकाश होता है।

२. पिण्डस्थ ध्यान-शरीर में विराजित अपने शुद्धात्मा का ध्यान करना कि मैं मात्र ज्ञान पिण्ड शुद्ध चैतन्य शुद्धात्मा हूँ, यह पिण्डस्थ ध्यान है। व्यवहार में पृथ्वी धारणा, अग्नि धारणा, वायु धारणा, जल धारणा, तत्त्वरूपवती धारणा के माध्यम से स्वरूप का चिन्तन करना कि- मेरा आत्मा पूर्ण शुद्ध है, सर्व पुद्गल से रहित है, स्फटिक मणितुल्य है, यही सिद्ध

है, ऐसा शुद्धात्मा का ध्यान करना पिण्डस्थ ध्यान है।

३. रूपस्थ ध्यान-व्यवहार में समवशरण में स्थित चौंतीस अतिशय, आठ प्रातिहार्य व चार अनन्त चतुष्टय सहित अरिहन्त के स्वरूप का ध्यान करना, अपने आपको उस रूप ध्याना, रूपस्थ ध्यान है। निश्चय से शुद्ध चिद्रूप परिपूर्ण शुद्ध परमात्मा हूँ, ऐसा अपने स्वरूप का ध्यान करना, रूपस्थ ध्यान है।

४. रूपातीत ध्यान-व्यवहार से सिद्ध के स्वरूप को ध्याना, जो जन्म, जरा, मरण से रहित है, आठ कर्म रहित है, क्रियारहित है, चार गति में गमनागमन रहित है, रागादि मल रहित है, अनुपम है। सिद्ध के स्वरूप को अपने आत्मा में आरोपण करके ध्यावे। निश्चय से अपने अरूपी सिद्धस्वरूप का ध्यान करना रूपातीत ध्यान है।

यही ज्ञानमयी धर्म चक्र है जिससे कर्मों का विध्वंस होता है। ज्ञानी हमेशा ऐसे धर्म ध्यान की साधना-आराधना करता है जिससे कर्मास्रव का निरोध होता है।

शुक्ल ध्यान-स्वात्मदर्शन निर्विकल्प शान्त शून्य ध्यान समाधि है। जीव के निश्चय स्वरूपाश्रित मात्र आठ प्रवचन माता का सम्यग्ज्ञान हो तो वह पुरुषार्थ बढ़ाकर निज स्वरूप में स्थिर होकर शुक्ल ध्यान प्रगट होता है।

शून्य ध्यान में लीन योगी का सर्व व्यापार बंद हो जाता है, चित्त का प्रसार रुक जाता है, इस शून्य ध्यान से परमस्थान जो मोक्ष पद है, वह प्राप्त हो जाता है।

प्रश्न- धर्म ध्यान विकल्प रूप है, इससे कर्मास्रव का निरोध कैसे होता है ?

समाधान-सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को उस विकल्प का स्वामित्व नहीं है और सम्यक्दर्शन की दृढ़ता होकर अशुभ राग दूर हो जाता है। चौथे गुणस्थान से धर्मध्यान होता है, पाँचवें-छठवें गुणस्थान में भी धर्मध्यान होता है और उससे उस गुणस्थान के योग्य संवर निर्जरा होती है। जो शुभ भाव होता है, वह तो बंध का कारण है, वह यथार्थ धर्म ध्यान नहीं है। जितना वीतराग भाव शुद्ध स्वभाव की लीनता रूप परिणाम है, उससे कर्मास्रव का निरोध रूप संवर निर्जरा होती है।

जो व्यवहार धर्मध्यान है वह शुभ भाव है, कर्म के चिंतन में मन लगा रहे यह तो शुभ परिणाम रूप धर्म ध्यान है। जो केवल शुभ परिणाम से मोक्ष मानते हैं, उन्हें समझना चाहिए कि शुभ परिणाम से अर्थात् व्यवहार धर्म ध्यान से मोक्ष नहीं होता।

ज्ञान स्वरूप आत्मा का ध्रुव, अचल, ज्ञानस्वरूप परिणामित होकर प्रतिभासित होना मोक्ष का हेतु है क्योंकि वह स्वयं भी मोक्ष स्वरूप है। इसके अतिरिक्त सभी

कुछ बन्ध का हेतु है क्योंकि वह स्वयं भी बन्ध स्वरूप है इसलिए ज्ञान स्वरूप आत्मानुभूति ही धर्म ध्यान रूप मोक्षमार्ग है।

ध्यान का प्रयोजन ही परम उदासीन भाव है। जिस योगी का चित्त ध्यान में उसी तरह लीन हो जाता है जैसे पानी में नमक लय हो जाता है तब उसके शुभ और अशुभ कर्मों को जला डालने वाली आत्मध्यान रूप अग्नि प्रगट होती है।

ध्यान ऐसा अमोघ अस्त्र है जिससे एक मुहुर्त में संपूर्ण कर्म क्षय को प्राप्त होते हैं। ध्यान ही मुक्ति को प्राप्त करने का एक मात्र परम साधन है।

सम्यक्ज्ञानी अपनी आत्मज्ञान की लहरों में ही मगन रहता है, पराश्रय की दीनता दूर हो जाती है। उसकी दृष्टि में मोक्ष पथ सहज दिखाई देता है। उसका मन संसार की समस्त वासनाओं से दूर हो जाता है और बन्ध मार्ग छूट जाता है। जिसके चित्त से राग-द्वेष का नाश हो गया वही ज्ञानी और ध्यानी है।

१४. द्रव्य, भाव, सुद्ध : तीन भाव

१५. तत्त्व, नित्य, प्रकासक : तीन भाव

गाथा-६१

दर्दस्य भाव सुद्धस्य, तत्त्व नित्य प्रकासकं ।

सुद्धात्मा भावए नित्यं, त्रिभंगी दल षंडितं ॥

अन्वयार्थ-(दर्दस्य भाव सुद्धस्य) आत्मा के द्रव्य स्वभाव को, आत्मा के परम पारिणामिक भाव को व शुद्ध स्वरूप को ध्याना (तत्त्व नित्य प्रकासकं) तत्त्व स्वरूप नित्य अविनाशी प्रकाशक ज्ञान स्वभाव की भावना करना (सुद्धात्मा भावए नित्यं) अपने शुद्धात्म स्वरूप की सदा भावना करने से (त्रिभंगी दल षंडितं) इन तीन-तीन दलों से कर्मों के दल का क्षय होता है।

विशेषार्थ- यहाँ एक गाथा में तीन-तीन भाव की दो त्रिभंगी का स्वरूप बताया है, जिन भावों को ध्याने से कर्मास्रव का निरोध होता है।

१. द्रव्यस्वभाव- आत्मद्रव्य सत् स्वरूप है, गुण पर्यायवान है, अनन्त गुण पर्याय का धारी है, अमूर्तिक है, असंख्यात प्रदेशी है। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप है। आत्मा को शुद्ध

निश्चय नय से देखा जावे तो यह विशुद्ध शुद्ध, सिद्ध के समान है।

२. भाव - आत्मा के भाव पाँच प्रकार के होते हैं-औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, औदयिक, पारिणामिक। इनमें से चार भाव कर्म सापेक्ष होते हैं। एक अनादि अनन्त शुद्ध चैतन्य स्वभाव वह पारिणामिक भाव है। औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक यह तीन भाव मोक्षकर्ता हैं, औदयिक भाव बन्ध का कारण है और पारिणामिक भाव बन्ध मोक्ष की क्रिया से रहित है।

वर्तमान पर्याय और उसके अतिरिक्त जो द्रव्य सामान्य तथा उसके गुणों का सादृश्यतया, त्रिकाल ध्रुव रूप से बने रहना; ऐसे दो पहलू प्रत्येक द्रव्य में होते हैं। आत्मा भी एक द्रव्य है इसलिए उसमें भी ऐसे दो पहलू हैं, उनमें से वर्तमान पर्याय को विषय करने वाला पर्यायार्थिक नय है। पाँच भावों में से औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक यह चार भाव पर्याय रूप वर्तमान अवस्था के लिए हैं इसलिए वे पर्यायार्थिक नय के विषय हैं। उस वर्तमान पर्याय को छोड़कर द्रव्य सामान्य तथा उसके अनन्त गुणों में जो सादृश्यतया, त्रिकाल ध्रुव रूप स्थिर रहता है उसे पारिणामिक भाव कहते हैं। उस भाव को कारण परमात्मा, कारण समयसार या ज्ञायक भाव भी कहा जाता है। वह त्रिकाल सादृश्य रूप होने से द्रव्यार्थिक नय का विषय है। ऐसे अपने परम पारिणामिक भाव के लक्ष्य से कर्मों का क्षय होता है।

३. शुद्ध स्वरूप-जब जीव अपने इन भावों का स्वरूप समझकर त्रिकाल ध्रुव रूप सकल निरावरण अखण्ड एक अविनश्वर शुद्ध पारिणामिक भाव की ओर अपना लक्ष्य स्थिर करता है, यही शुद्ध स्वरूप है, जिसके आश्रय से समस्त कर्म क्षय होते हैं।

४. तत्त्व- तत्त्व शब्द का अर्थ तत्पना या उस रूपता है। प्रत्येक वस्तु में तत्त्व के स्वरूप से तत्पन है और पर रूप से अतत्पन है। जीव वस्तु है इसलिए उसमें अपने स्वरूप से तत्पन है और पर के स्वरूप से अतत्पन है। जीव चैतन्य स्वरूप होने से ज्ञाता है और अन्य सब वस्तुएँ ज्ञेय हैं इसलिए जीव दूसरे सभी पदार्थों से सर्वथा भिन्न है। जीव अपने से तत्पन है इसलिए उसे अपना ज्ञान स्वतः होता है और जीव पर से अतत् है इसलिए उसे पर से ज्ञान नहीं हो सकता। तत्त्व परिपूर्ण शुद्ध द्रव्य को कहते हैं, तत्त्व के श्रद्धान से ही सम्यग्दर्शन होता है।

५. नित्य-आत्मा त्रिकाल शाश्वत ध्रुव स्वभाव है। पुरुषार्थ के द्वारा सत्समागम से अकेले ज्ञान स्वभाव आत्मा का निर्णय करने के बाद मैं अबन्ध हूँ या बन्धवान हूँ, शुद्ध हूँ या

अशुद्ध हूँ, त्रिकाल हूँ या क्षणिक हूँ; ऐसी जो वृत्तियाँ उठती हैं, उनमें आत्मशांति नहीं है। वे वृत्तियाँ आकुलतामय आत्मशांति की विरोधिनी हैं। नय पक्षों के अवलम्बन से होने वाले मन सम्बन्धी अनेक प्रकार के विकल्पों को भी मर्यादा में लाकर अर्थात् उन विकल्पों को रोकने के पुरुषार्थ से श्रुतज्ञान को भी आत्मसन्मुख करने पर शुद्धात्मा का अनुभव होता है।

६. प्रकाशक-आत्मा स्व-पर प्रकाशक केवलज्ञान स्वभावी परमात्मा है। अखण्ड विज्ञान घन स्वरूप ज्ञान स्वभाव आत्मा निश्चय है और परिणति को स्वभाव सन्मुख करना व्यवहार है। मतिश्रुत ज्ञान को अपनी ओर लगा लेने की पुरुषार्थ रूप जो पर्याय है वह व्यवहार है और अखण्ड आत्म स्वभाव निश्चय है।

सत् श्रुत के परिचय से ज्ञान स्वभाव आत्मा का निर्णय करने के बाद मति श्रुतज्ञान को उस ज्ञान स्वभाव की ओर ले जाने का प्रयत्न करना, निर्विकल्प होने का प्रयत्न करना ही प्रथम मार्ग है।

शुद्धात्म स्वरूप का वेदन कहो, ज्ञान कहो, श्रद्धा कहो, चारित्र्य कहो, अनुभव कहो या साक्षात्कार कहो; यह एक आत्मा ही है जो स्व-पर प्रकाशक है। केवली पद, सिद्ध पद या साधु पद, यह सब एक आत्मा में ही समाविष्ट होते हैं।

ऐसे अपने आत्म स्वरूप की भावना करने से कर्मास्रव का निरोध होता है।

१६. तत्त्व, द्रव्य, काय : तीन भाव

गाथा-६२

तत्वादि सप्त तत्त्वानां, दर्व काय पदार्थकं ।

सार्थ करोति सुद्धात्मानं, त्रिभंगी समय किं करोति ॥

अन्वयार्थ-(तत्वादि सप्त तत्त्वानां) जीव तत्त्व आदि को लेकर सात तत्त्वों का (दर्व काया पदार्थकं) छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, नौ पदार्थ ऐसे सत्ताईस तत्त्वों द्वारा (सार्थ करोति सुद्धात्मानं) जो शुद्धात्मा की श्रद्धा तथा साधना करते हैं (त्रिभंगी समय किं करोति) उन जीवों का कर्मास्रव क्या करते हैं अर्थात् कर्मास्रव विला जाते हैं।

विशेषार्थ-सात तत्त्व-जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष। छह द्रव्य-जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल। पाँच अस्तिकाय-जीवास्तिकाय,

पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय। नौ पदार्थ- जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष। इन सत्ताईस तत्वों में एक जीव तत्व ही प्रमुख है जो चेतन लक्षण वाला तथा इन सत्ताईस तत्वों को जानने वाला है। शेष तत्व अजीव, पुद्गल का विस्तार है, जो जीव के विभाव रूप परिणमन का परिणाम है।

शुद्ध नय से देखा जाये तो जीव ही एक चैतन्य चमत्कार मात्र प्रकाश रूप प्रगट हो रहा है। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न तत्व कुछ भी दिखाई नहीं देते। जब तक इस प्रकार जीव तत्व की जानकारी जीव को नहीं है तब तक वह व्यवहार दृष्टि है, भिन्न-भिन्न तत्वों को मानता है। जीव पुद्गल की बन्ध पर्याय रूप दृष्टि से पदार्थ भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं किन्तु जब शुद्ध नय से जीव पुद्गल का स्वरूप भिन्न-भिन्न देखा जाये कि जीव सिद्ध के समान शुद्ध परमात्म स्वरूप है और पुद्गल शुद्ध परमाणु रूप है तो फिर कुछ भी वस्तु नहीं है। वे निमित्त-नैमित्तिक भाव से हुए थे, इसलिए जब निमित्त नैमित्तिक भाव मिट गया तब जीव, पुद्गल भिन्न-भिन्न होने से अन्य कोई वस्तु सिद्ध नहीं हो सकती। वस्तु तो द्रव्य है और द्रव्य का निज भाव, द्रव्य के साथ ही रहता है तथा निमित्त-नैमित्तिक भाव का अभाव ही होता है इसलिए शुद्धात्मा के श्रद्धान से मुक्ति की प्राप्ति होती है।

जो सुबुद्धि जीव- भूत, वर्तमान, और भविष्य तीनों काल में कर्मों के बन्ध को अपने आत्मा से भिन्न करके तथा कर्मोदय के निमित्त से होने वाले अज्ञान मिथ्यात्व को अपने पुरुषार्थ से नाश करके अन्तरंग में देखता है तो यह आत्मा अपने अनुभव से ही जानने योग्य जिसकी प्रगट महिमा है, ऐसा व्यक्त, अनुभव गोचर, निश्चल, शाश्वत, ममलस्वभावी शुद्धात्मा स्वयं देव विराजमान है ऐसा अनुभव में आता है।

व्यवहार नय से जीव, अजीव आदि सात तत्वों का श्रद्धान करना सम्यक्त्व कहलाता है क्योंकि इनके श्रद्धान से पर्यायों का ज्ञान होता है कि यह आत्मा इस तरह कर्म बन्ध कर अशुद्ध होता है तथा कर्म का क्षय करके मुक्त होता है। इसमें पुण्य-पाप, आस्रव-बन्ध में गर्भित हैं। जीवादि छह द्रव्यों में काल द्रव्य को छोड़कर पाँच अस्तिकाय गर्भित हैं।

इन सात तत्वों में जीव, संवर, निर्जरा, मोक्ष ग्रहण करने योग्य हैं, आस्रव बन्ध त्यागने योग्य हैं, अजीव ज्ञेय है। निश्चय नय से एक शुद्धात्मा ही ग्रहण करने योग्य है, जिसके

श्रद्धान से कर्मास्रव का निरोध होता है।

जो भव्य, आत्मा को अबद्ध स्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष, असंयुक्त देखता है वह सर्व जिन शासन को देखता जानता है।

१७. समय, सुद्ध, सार्ध : तीन भाव

१८. समय, सार्ध, ध्रुव : तीन भाव

गाथा-६३

समयं दर्शनं न्यानं, चरनं सुद्ध भावना।

सार्धं सुद्ध चिद्रूपं, तस्य समय सार्धं ध्रुवं ॥

अन्वयार्थ-(समयं दर्शनं न्यानं) समय जो आत्मा वह दर्शन ज्ञान (चरनं सुद्ध भावना) चारित्रमयी है, ऐसी शुद्ध भावना भाना (सार्धं सुद्ध चिद्रूपं) शुद्ध चैतन्य स्वरूप की साधना करना (तस्य समय सार्धं ध्रुवं) उसको समय अर्थात् आत्मा का निश्चय से शाश्वत श्रद्धान है।

विशेषार्थ- आत्मा निश्चय से समय है, अपने स्वरूप में एक भाव से परिणमन करने वाला तथा जानने वाला है। यह अपने स्वभाव में रमणशील होने से यही स्वसमय है। जब यह स्वभाव में रमता है तब इसमें शुद्ध तत्व की भावना होती है। स्वभाव में रमण रूप आत्मा का परिणमन होना ही सार्धक है क्योंकि उस समय निश्चय रत्नत्रय का लाभ है। आप ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप हो रहा है। यही एक स्वानुभवमयी मोक्षमार्ग है, यही धर्म ध्यान और शुक्लध्यान है जो कर्मों का क्षय कारक भाव है।

जब यह जीव सर्व पदार्थों के स्वभाव को प्रकाशित करने में समर्थ केवलज्ञान को उत्पन्न करने वाली भेदज्ञान ज्योति का उदय होने से, सर्व पर द्रव्यों से छूटकर दर्शनज्ञान स्वभाव में नियत वृत्ति रूप आत्मतत्त्व के साथ एकत्व रूप में लीन होकर प्रवृत्ति करता है, तब दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थित होने से अपने स्वरूप को एकत्व रूप से एक ही समय में जानता तथा परिणमता हुआ स्वसमय है। ज्ञानी के दर्शन, ज्ञान, चारित्र यह तीन भाव व्यवहार से कहे जाते हैं। निश्चय से ज्ञान भी नहीं है, दर्शन भी नहीं है, चारित्र भी नहीं है, ज्ञानी तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है।

परमार्थ या उत्तम पदार्थ एक आत्मा है, वह एक साथ अपने

आपमें रमण करने वाला है इसलिए समय है। सर्व नयों के विकल्पों से अतीत परम शुद्ध है, केवल चैतन्य वस्तु है इसलिए केवली है। स्वानुभव में स्थित है इसलिए मुनि है। ज्ञान स्वरूप से ज्ञानी है, अपने ही स्वभाव में रहता है इसी से स्वभाव है। जो कोई साधक ऐसे स्वसमय में स्थिर होकर स्वानुभव करते हैं, वे ही निर्वाण को पाते हैं।

१९. संमत्त, वंदना, स्तुति : तीन भाव

गाथा-६४

संमत्त सुद्ध दिस्टिं च, वंदना नित्य सास्वतं ।

अस्तुतिं सुद्ध दर्वस्य, त्रिभंगी दल निरोधनं ॥

अन्वयार्थ-(संमत्त सुद्ध दिस्टिं च) जो शुद्ध सम्यग्दृष्टि है अर्थात् जिसे निज शुद्धात्मानुभूति युत सम्यक्दर्शन-ज्ञान है वह (वंदना नित्य सास्वतं) हमेशा अपने शाश्वत ध्रुव स्वभाव की वन्दना करता है (अस्तुतिं सुद्ध दर्वस्य) अपने शुद्ध द्रव्य स्वभाव की स्तुति करता है (त्रिभंगी दल निरोधनं) इससे समस्त कर्माश्रय का निरोध होता है।

विशेषार्थ-निश्चय सम्यग्दर्शन, निज शुद्धात्मानुभूति, संसार का नाश करने वाली है। जो शुद्ध सम्यग्दृष्टि हैं, वह हमेशा अपने शाश्वत ध्रुव स्वभाव सिद्धस्वरूप की ही आराधना, वन्दना, भक्ति करते हैं। अपने शुद्ध द्रव्य स्वभाव की महिमा गाते हैं, यही सच्चे देव की सच्ची पूजा, वन्दना, स्तुति है। जिससे समस्त कर्म क्षय होकर निर्वाण की प्राप्ति होती है।

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव जब अपना उपयोग स्वात्मानुभूति में नहीं जोड़ पाते हैं तब शुद्धात्मा की स्तुति, उसकी महिमा का वर्णन करते हैं तथा चिन्तन, मनन द्वारा वन्दना करके उपयोग को शुद्ध भाव में ले जाने की चेष्टा करते हैं, इससे समस्त कर्माश्रय का निरोध होता है।

जो कोई मोह को जीतकर ज्ञान स्वभाव से पूर्ण अपने आत्मा का अनुभव करता है, उसे परमार्थ के ज्ञाता जित मोह साधु कहते हैं। इस स्तुति में लक्ष्य आत्मा पर ही जाता है यह निश्चय स्तुति है।

शरीर और आत्मा के व्यवहार नय से एकत्व है किन्तु निश्चय नय से नहीं है, इसलिए शरीर के स्तवन से आत्मा पुरुष का स्तवन व्यवहार नय से हुआ कहलाता

है; निश्चय नय से नहीं। निश्चय से तो चैतन्य के स्तवन से ही चैतन्य का स्तवन होता है, उस चैतन्य का स्तवन, शुद्धोपयोग स्वात्मानुभव द्वारा होता है।

केवल आत्मा को लक्ष्य में लेकर आत्मिक गुणों का गाना निश्चय स्तुति है। शुद्धात्मा-सिद्धात्मा को अपने भावों में स्थापित करना सच्ची वन्दना है। जिसकी वन्दना व स्तुति की जावे उसके गुणों को अपने में प्रगट किया जावे, वह भाव वन्दना व स्तुति है।

चेतना लक्षणम् आनन्द कन्दनम्, वन्दनम् वन्दनम् वन्दनम् वन्दनम् ॥

शुद्धातम हो सिद्ध स्वरूपी, ज्ञान दर्शन मयी हो अरूपी।

शुद्ध ज्ञानं मयं चैयानन्दनम्, वन्दनम् वन्दनम्

द्रव्य नो भाव कर्मों से न्यारे, मात्र ज्ञायक हो इष्ट हमारे।

सुसमय चिन्मयं निर्मलानन्दनम्, वन्दनम् वन्दनम्

पंच परमेष्ठी तुमको ही ध्याते, तुम ही तारण तरण हो कहाते।

शाश्वतं जिनवरं ब्रम्हानन्दनम्, वन्दनम् वन्दनम्

ॐ जय आतम देवा, प्रभु शुद्धातम देवा ।

तुम्हरे मनन करे से निशदिन, मितते दुःख देवा ॥ ॐ जय .

अगम अगोचर परम ब्रम्ह तुम, शिवपुर के वासी ।

स्वामी शिवपुर के वासी ।

शुद्ध बुद्ध हो नित्य निरन्जन, शाश्वत अविनाशी ॥ १ ॥ ॐ जय ..

विष्णु बुद्ध महावीर प्रभु, तुम रत्नत्रय धारी ।

स्वामी रत्नत्रय धारी ।

वीतराग सर्वज्ञ हितंकर, जग के सुख कारी ॥ २ ॥ ॐ जय ..

ज्ञानानन्द स्वभावी हो तुम, निर्विकल्प ज्ञाता ।

स्वामी निर्विकल्प ज्ञाता ।

तारण- तरण जिनेश्वर, परमानन्द दाता ॥ ३ ॥ ॐ जय ..

समय और आत्मा, जो द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नो कर्म से रहित शुद्धात्म स्वरूप है उसे मेरा नमस्कार हो। जो शुद्ध सत्ता स्वरूप है, जिसका स्वभाव चेतना गुणरूप है, अपनी ही अनुभवन रूप क्रिया से प्रकाश करता है अर्थात् अपने को अपने से ही जानता है, प्रगट करता है। स्वतः अन्य जीवाजीव, चराचर पदार्थों को सर्व क्षेत्र, काल सम्बन्धी सर्व

विशेषणों के साथ एक ही समय में जानने वाला है। इस प्रकार सर्व गुणों से शुद्ध निज शुद्ध आत्मा की वन्दना स्तुति करना, सच्ची देव पूजा है जिससे समस्त कर्म क्षय होते हैं।

यही सम्यक्त्व मयी वन्दना स्तुति है जो कर्मास्रव का निरोध करने वाली है।

२०. पदार्थ, व्यंजन, स्वरूप : तीन भाव

गाथा-६५

पदार्थ पद विन्दते, विंजनं न्यान दिष्टितं।

स्वरूपं सुद्ध चिद्रूपं, विंजनं पद विंदकं॥

अन्वयार्थ-(पदार्थ पद विन्दते) पदार्थ रूप आत्मा में परमात्म पद की अनुभूति करते हैं (विंजनं न्यान दिष्टितं) व्यंजन रूप उसका लक्षण या चिन्ह देखते हैं जो शुद्ध ज्ञान, दर्शन स्वरूप है (स्वरूपं सुद्ध चिद्रूपं) जिसका स्वरूप सर्वांग शुद्ध चैतन्य मय अमूर्तिक है (विंजनं पद विंदकं) ऐसे पदार्थ-व्यंजन स्वरूप को लक्ष्य में लेकर जो अपने पद का अनुभव करता है, उसके कर्मास्रव विला जाते हैं।

विशेषार्थ-शुद्ध निश्चय नय से जो अपने आत्मा को अभेद, शुद्ध, एक, केवल, ज्ञातादृष्टा, परमानंदमय ध्याता है, यही ध्यान कर्मों के बन्धन को काटने वाला है। जो शुद्ध स्वरूप को ध्याता है वही परमात्मा हो जाता है। आत्मा ही परमात्मा है, चैतन्यमयी, शुद्ध ज्ञान व शुद्ध दर्शन का धारी, केवलज्ञान स्वभावी है। ऐसे अपने पदार्थ-व्यंजन स्वरूप का आराधन आस्रव निरोधक है।

जब तक यह आत्मा स्व-पर के भिन्न-भिन्न निश्चित स्वलक्षण का ज्ञान न होने से प्रकृति के स्वभाव को जो कि अपने को बन्ध का निमित्त है, उसको नहीं छोड़ता; तब तक स्व-पर के एकत्व ज्ञान के कारण अज्ञानी है।

स्व-पर के एकत्व दर्शन से मिथ्यादृष्टि है और स्व-पर की एकत्व परिणति से असंयत है और तभी तक पर के तथा अपने एकत्व का अध्यास करने से कर्ता है। जब यही आत्मा अपने और पर के भिन्न-भिन्न निश्चित स्वलक्षणों के ज्ञान के कारण प्रकृति के स्वभाव को जो कि अपने को बन्ध का निमित्त है, उसे छोड़ता है तब स्व-पर के भेदज्ञान से ज्ञायक है। स्व-पर के भेद दर्शन से दर्शक है और स्व-पर की भेद परिणति से संयत है तथा तब ही स्व-पर के एकत्व का अध्यास न करने से अकर्ता है।

शुद्धनय का विषय जो ज्ञानस्वरूप आत्मा है, वह कर्तृत्व-भोक्तृत्व के

भावों से रहित है, बन्ध मोक्ष की रचना से रहित है, परद्रव्य से और परद्रव्य के भावों से रहित होने से शुद्ध है। निजरस के प्रवाह से पूर्ण दैदीप्यमान ज्योतिरूप है और टंकोत्कीर्ण महिमामय है, ऐसे ज्ञानपुंज आत्मा की भावना भाने से कर्मास्रव का निरोध और मुक्ति की प्राप्ति होती है।

२१ . नन्द, आनन्द, सहजानन्द : तीन भाव

गाथा-६६

आनन्द नन्द रूवेन, सहजानन्द जिनात्मनं।

सुद्ध स्वरूप तत्त्वानं, नन्त चतुष्टय संजुतं॥

अन्वयार्थ-(आनन्द नन्द रूवेन) अपना स्वरूप नन्द, आनन्दमयी है (सहजानन्द जिनात्मनं) परमेष्ठी पद में सहजानन्द मयी जिन आत्मा है (सुद्ध स्वरूप तत्त्वानं) ऐसे आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जानने से (नन्त चतुष्टय संजुतं) अनन्त चतुष्टय प्रगट होते हैं।

विशेषार्थ-द्वन्द्व रहित अवस्था को नन्द कहते हैं, जो आत्मा का स्वभाव है। नन्द से आनन्द की वृद्धि होती है, जैसे दूज का चन्द्रमा स्वयं पूर्णमासी का चन्द्रमा हो जाता है। जब सम्यग्दर्शन प्रगट होता है तब स्वानुभव के जाग्रत होने से आत्मानन्द में मगनता होती है। चौथे, पाँचवें, छठवें गुणस्थान में उपयोग प्रमाद सहित हो जाता है तब आत्मानुभव हर समय नहीं रहता है। साधक को बुद्धिपूर्वक निमित्त मिलाकर उपयोग को शुद्धात्मा के अनुभव में जोड़ना पड़ता है। इस प्रकार स्वात्मानन्द में मगन होने से कर्म की निर्जरा होती है फिर अप्रमत्त गुणस्थान में होकर क्षीण मोह बारहवें गुणस्थान तक सहजानन्द का प्रकाश रहता है, बिना प्रयत्न के सहज ही शुद्ध ध्यान होता है व सहज ही आनन्द का स्वाद आता है।

श्रेणी पथ पर चढ़ने से, विशेष करके क्षपक श्रेणी पर आरोहण करने से विशेष कर्मों का क्षय होता है। इस कर्म के क्षय में सहजानन्द का योग कारण है, इसी से चारों घातिया कर्मों का क्षय होकर केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। शुद्धात्मा का प्रत्यक्ष रूप झलक जाता है, अरिहन्त परमात्मा हो जाता है, तब अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य, अनन्त चतुष्टय प्रगट हो जाते हैं।

जब आत्मानन्द का स्वाद आवे तभी आत्मानुभव या आत्मध्यान या रत्नत्रय की एकता रूप मोक्षमार्ग समझना चाहिए। अतीन्द्रिय आनंद में आत्मतल्लीनता से जो

वीतरागता होती है उसी से कर्मों का क्षय होता है तथा वह आनन्द, जितनी-जितनी ज्ञान की, व वीतरागता की वृद्धि होती है, उतना-उतना बढ़ता जाता है।

अरिहन्त सिद्ध परमात्मा को परमानन्द रूप हो जाता है फिर वह कभी मिटता नहीं है, सदा बना रहता है। मुक्ति का मार्ग नन्द, आनन्द, सहजानन्दमयी है, इसी से कर्माश्रय का निरोध होता है।

जब योगी साधक योग बल से आत्मा के स्वरूप में तन्मय हो जाता है व सर्व व्यवहार के विकल्पों से रहित हो जाता है, तब अद्भुत अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। यही आनन्द निरन्तर कर्मों के ईंधन को प्रचुरता से जलाता है। उस समय योगी को बाहर कोई पर-पर्याय का लक्ष्य नहीं रहता है। जो सर्व विकल्पों को त्यागकर परम समाधि का लाभ करते हैं वे जिस आनन्द को भोगते हैं उसी को मोक्ष सुख कहते हैं।

भेद विज्ञान का बारम्बार अभ्यास करना यही मोक्षमार्ग है, उसी से शुद्धात्म तत्व की प्राप्ति होती है, पूर्ण आश्रय भाव रुकता है तथा उसी जीव को मोक्ष होता है।

२२. विवहार, निश्चय, सुद्ध : तीन भाव

२३. दर्शनाचार, न्यानाचार, तपाचार : तीन भाव

२४. चारित्राचार, वीर्याचार इत्यादि भेद

(२४ से ३६ पर्यन्त) गाथा नं. ६७ से ७१ तक में व्यवहार-निश्चय रूप से वर्णन किये गये हैं। जो $36 \times 3 = 108$ भेद निरोध अर्थात् १०८ आश्रय के लिए संवर रूप हैं।

गाथा-६७, ६८

विवहारं दर्शनं न्यानं, चारित्रं सुद्ध दिष्टितं ।

निश्चये सुद्ध बुद्धस्य, त्रिस्थिते स्वात्म दर्शनं ॥

आचरणं दर्शनाचारं, न्यानं चरनस्य वीर्यं ।

तपाचार चारित्रं च, दर्शनं सुद्धात्मनं ॥

अन्वयार्थ-(विवहारं दर्शनं न्यानं) व्यवहार से सम्यग्दर्शन, ज्ञान (चारित्रं सुद्ध दिष्टितं) चारित्र, शुद्ध दृष्टि को होते हैं (निश्चये सुद्ध बुद्धस्य) निश्चय से शुद्ध दृष्टि ज्ञानी को (त्रिस्थिते

स्वात्म दर्शनं) स्वात्मदर्शन ही दिखलाई पड़ता है।

(आचरणं दर्शनाचारं) आचरण में दर्शनाचार (न्यानं चरनस्य वीर्यं) ज्ञानाचार, चारित्राचार, वीर्याचार (तपाचार चारित्रं च) तपाचार रूप पंचाचार चारित्र दिखाई देता है (दर्शनं सुद्धात्मनं) निश्चय से एक शुद्धात्मा का दर्शन, शुद्धात्मानुभूति ही होती है।

विशेषार्थ-यहाँ सिद्धान्त का सार साधक की साधना का लक्ष्य बिन्दु एक ही है कि मोक्ष का मार्ग केवल स्वात्मानुभूति या स्वात्मदर्शन है जो अनुभवगम्य है। जहाँ नय, निक्षेप, प्रमाण का कोई विचार नहीं है, वह निश्चय-व्यवहार दोनों से परे है इसलिए वही ध्रुव है, शुद्ध है, सिद्ध है; उसकी साक्षात् प्राप्ति के लिए निश्चय नय से आत्मा के शुद्ध स्वरूप का मनन-स्मरण ध्यान है। इस निश्चय का साधन भेदरूप व्यवहार है।

व्यवहार में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की एकता मोक्ष का मार्ग है, निश्चय से एक अपना आत्मा ही है। रत्नत्रय आत्मा को छोड़कर और किसी द्रव्य में नहीं होते, इसलिए रत्नत्रयमयी आत्मा ही मोक्ष का कारण है। व्यवहार नय से ही साधु के लिए पाँच प्रकार का आचार मोक्ष का साधन बताया है, क्योंकि वह स्वात्मानुभव की स्थिति में साधक है, साध्य तो निज शुद्धात्मा ही है।

१. दर्शनाचार-सम्यग्दर्शन का आचरण यह है कि पच्चीस मलरहित अष्ट अंग सहित तत्त्वों की श्रद्धा को दृढ़ रखना व निज शुद्धात्मानुभूति करना।

२. ज्ञानाचार-सम्यग्ज्ञान की शुद्धिपूर्वक, पंच ज्ञान की प्रगटता होना।

३. चारित्राचार-साधु के चारित्र को उत्तम प्रकार से पालन करना, जिसके तेरह भेद-पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीनगुप्ति सहित अपने आत्मस्वरूप में रमण करना, ज्ञान, ध्यान, तप में रत रहना।

४. तपाचार-तप को भले प्रकार पालन करना, इसके बारह भेद हैं -छह बाह्य, छह आभ्यन्तर। इच्छाओं का निरोध कर, स्वरूप में लीन रहना ही तप है।

५. वीर्याचार-आत्म पुरुषार्थ को प्रगट कर ज्ञानानन्द स्वभाव में लीन रहना। निरन्तर उमंग, उत्साहपूर्वक शुद्धात्मानुभूति में रत रहना।

इस प्रकार निश्चय-व्यवहार के समन्वयपूर्वक शुद्धात्मानुभूति की साधना करना, इससे कर्माश्रय का निरोध होता है, पूर्व कर्म बन्धोदय क्षय होते हैं, मुक्ति की प्राप्ति होती है। निश्चय चारित्र स्वात्मानुभव ही है। वास्तव में आप ही साधन है, आप ही साध्य है,

आपसे ही आत्मा, आप ही पवित्र होता है। यह आत्मा, आत्मा में ही, आत्मा के द्वारा स्वयमेव अनुभव किया जाता है। जो कोई भव्य जीव भयानक संसार रूपी महासमुद्र से निकलना चाहते हैं, उन्हें उचित है कि कर्मरूपी ईंधन को जलाने के लिए अपने शुद्धात्मा को ध्यावें।

आत्मा जब ज्ञानी हुआ तब उसने वस्तु का ऐसा स्वभाव जाना कि आत्मा स्वयं तो शुद्ध ही है। ममल स्वभाव शुद्धात्मा है। द्रव्य दृष्टि से अपरिणमन स्वरूप है, पर्याय दृष्टि से पर द्रव्य के निमित्त से रागादि रूप परिणमित होता है इसलिए अब ज्ञानी उन भावों का कर्ता नहीं होता है। जो उदय में आते हैं उनका ज्ञाता ही होता है, इस प्रकार नवीन बंध को रोकता हुआ और अपने आठ अंगों से युक्त होने के कारण निर्जरा प्रगट होने से पूर्व बद्ध कर्मों का नाश करते हुए सम्यक्दृष्टि जीव स्वयं निज रस में मस्त हुआ आदि, मध्य, अंतरहित सर्वव्यापक एक प्रवाह रूप धारावाही ज्ञानरूप होकर ज्ञान के द्वारा लोकालोक को प्रकाशित करता है।

भावक भाव और ज्ञेय भावों में भेदज्ञान होने पर जब सर्व अन्य भावों से भिन्नता हुई तब यह उपयोग स्वयं ही अपने एक आत्मा को धारण करता हुआ, जिनका परमार्थ प्रगट हुआ है, ऐसे दर्शन ज्ञान चारित्र से जिसने परिणति की है वह अपने आत्मा रूपी उपवन में प्रवृत्ति करता है, अन्यत्र नहीं जाता।

निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञान मय हूँ, सदा अरूपी हूँ, किंचित् मात्र भी अन्य पर द्रव्य परमाणु मेरा नहीं है यह निश्चय है, ऐसा ज्ञानी कर्म को न करता है, न भोगता है, वह कर्म के स्वभाव को मात्र जानता ही है। इस प्रकार करने और भोगने के अभाव रूप मात्र जानता हुआ, शुद्ध स्वभाव में निश्चल वह वास्तव में मुक्त ही है।

गाथा- ६९, ७०

एतत् भावनां क्रित्वा, त्रिभंगी दल निरोधनं ।

सुद्धात्मा स्व स्वरूपेन, उक्तं च केवलं जिनं ॥

जिनवाणी हृदयं चिंते, जिन उक्तं जिनागमं ।

भव्यात्मा भावये नित्यं, पंथं मुक्ति श्रियं ध्रुवं ॥

अन्वयार्थ- (एतत् भावनां क्रित्वा) इस प्रकार भावना करते-करते (त्रिभंगी दल निरोधनं) ऊपर कहे गये सर्व आस्रव त्रिभंगी के दल रुक जाते हैं (सुद्धात्मा स्व स्वरूपेन)

शुद्धात्मा अपने स्वरूप में ठहर जाता है (उक्तं च केवलं जिनं) ऐसा केवलज्ञानी जिनेन्द्र परमात्मा ने कहा है।

(जिनवाणी हृदयं चिंते) जिनवाणी का हमेशा हृदय में चिंतन करना चाहिये (जिन उक्तं जिनागमं) जिनागम में जिनेन्द्र भगवान का ही कथन है (भव्यात्मा भावये नित्यं) जो भव्यात्मा जिनवाणी की हमेशा भावना करते हैं (पंथं मुक्ति श्रियं ध्रुवं) वे श्रेष्ठ मुक्तिमार्ग के पथिक अपने ध्रुव स्वभाव को पाते हैं।

विशेषार्थ- केवलज्ञानी जिनेन्द्र परमात्मा ने कहा है कि हे भव्य ! तुझे तेरा परिभ्रमण टालना हो तो सम्यक्ज्ञान की तीक्ष्ण बुद्धि से आनंद सागर स्वभाव को ग्रहण कर ले, स्व स्वरूप शुद्धात्मा का आश्रय होने से कर्मास्रव का निरोध होकर मुक्ति की प्राप्ति होती है।

सम्यक्दृष्टि निर्विकल्प अनुभव में नहीं रह सकते इसलिए जिनवाणी का स्वाध्याय, चिंतन-मनन करने से भावों में शुद्धता आती है। जिनेन्द्र परमात्मा द्वारा कहा हुआ जैनागम ही जिनवाणी है। जो भव्यात्मा अपने शुद्ध स्वरूप को दर्शाने वाली जिनवाणी की नित्य भावना करता है, अपने शुद्धात्म स्वरूप की अनुभूति में डूबता है, उसको कर्मास्रव का निरोध होकर श्रेष्ठ मुक्ति का मार्ग, अपना ध्रुव स्वभाव प्रगट होता है।

साधक अन्तर में जाए तो अनुभूति और बाहर आए तो तत्त्व चिंतन होता है। यद्यपि ज्ञानी की दृष्टि सविकल्प दशा में भी परमात्म तत्त्व पर ही होती है तथापि पंच परमेष्ठी, जिनवाणी चिंतन, ध्याता-ध्यान, ध्येय इत्यादि संबंधी विकल्प भी होते हैं; परंतु निर्विकल्प स्वानुभूति होने पर विकल्प जाल टूट जाता है, शुभाशुभ विकल्प भी नहीं रहते। उग्र निर्विकल्प दशा में ही मुक्ति है, ऐसा मार्ग है।

साधक जीव को भूमिका अनुसार देव, गुरु की महिमा के, श्रुत चिंतवन के, अणुव्रत-महाव्रत आदि के विकल्प होते हैं परंतु वे ज्ञायक रूप परिणति को भाररूप हैं क्योंकि स्वभाव से विरुद्ध हैं। अपूर्ण दशा में वे सविकल्प होते हैं, स्वरूप में एकाग्र होने पर, निर्विकल्प स्वरूप में निवास होने पर यह सब विकल्प छूट जाते हैं। पूर्ण वीतराग दशा में सर्व प्रकार के राग का क्षय हो जाता है, यही श्रेष्ठ मुक्तिमार्ग है।

संसार भ्रमण का कारण एक मात्र अपने स्वरूप को न जानना है। रत्नत्रय की प्राप्ति बड़े ही सौभाग्य से होती है अतः उसे पाकर सतत् सावधान रहने की जरूरत है। एक क्षण का भी प्रमाद हमें उससे दूर कर सकता है। प्रमाद

की संभावना इसलिए है क्योंकि पुराने संस्कारों के कारण भ्रम में पड़ सकते हैं।

सच्चा धर्म वही है जो राग-द्वेष से रहित पूर्ण ज्ञानी सर्वज्ञ परमात्मा के द्वारा कहा गया है। निश्चय से वस्तु का जो स्वभाव है वही धर्म है। जैसे आत्मा का चैतन्य स्वभाव ही उसका धर्म है; किंतु संसार अवस्था में वह चैतन्य स्वभाव तिरोहित होकर गति, इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओं में चौदह गुणस्थानों के द्वारा विभाजित होकर नाना रूप हो गया है। यद्यपि द्रव्य दृष्टि से वह एक ही है; इसीलिए जिनेन्द्र भगवान ने जो धर्मोपदेश दिया है वह व्यवहार और निश्चय से व्यवस्थापित है। जो साधक अपनी इन्द्रियों और मन के प्रसार को रोकता है तथा आत्मा के द्वारा आत्मा में आत्मा का अनुभवन करके कृत-कृत्य अवस्था को प्राप्त करता है, उसको प्रथम जीवन मुक्ति पश्चात् परम मुक्ति प्राप्त होती है। मन के एकाग्र होने से स्वसंवेदन के द्वारा आत्मा की अनुभूति होती है, उसी आत्मानुभूति से जीवन मुक्त दशा और अंत में परम मुक्ति की प्राप्ति होती है।

हे भव्य ! यदि तुझे विभाव से छूटकर मुक्त दशा प्राप्त करना हो तो चैतन्य के अभेद स्वरूप को ग्रहण कर। द्रव्य दृष्टि, सर्व प्रकार की पर्याय को दूर रखकर एक निरपेक्ष सामान्य स्वरूप को ग्रहण करती है। द्रव्य दृष्टि के विषय में गुण भेद भी नहीं होते, ऐसी शुद्ध दृष्टि प्रगट कर, यही श्रेष्ठ मुक्तिमार्ग है।

अन्तिम प्रशस्ति

गाथा-७१

जिन उत्तं सुद्ध तत्त्वार्थ , सुद्धं संमिक् दर्शनं ।

किंचित् मात्र उवएसं च, जिन तारण मुक्ति कारनं ॥

अन्वयार्थ- (जिन उत्तं सुद्ध तत्त्वार्थ) जिनेन्द्र भगवान ने शुद्ध तत्त्व के स्वरूप को कहा है (सुद्धं संमिक् दर्शनं) तथा शुद्ध सम्यक्दर्शन अर्थात् निज शुद्धात्मानुभूति से मोक्षमार्ग बताया है (किंचित् मात्र उवएसं च) उसी वस्तु स्वरूप को समझने, समझाने, कहने के किंचित् भाव हुए हैं (जिन तारण मुक्ति कारनं) [श्री] जिन तारण का अभिप्राय मुक्ति प्राप्त करना है, कोई ख्याति, पूजादि लाभ की चाह नहीं है।

विशेषार्थ- श्री जिनेन्द्र प्रणीत वस्तु स्वरूप सर्वांग निर्दोष व पूर्ण रूप से वैज्ञानिक और सर्वोत्कृष्ट है; कारण कि इसमें परिपूर्ण शुद्धि रूप ध्येय के लक्ष्य से आरंभ होकर तदनुसार प्रथम

ही दर्शनमोह व अनन्तानुबंधी कषाय जनित चारित्रमोह के अभावपूर्वक निज शुद्धात्मानुभूति शुद्ध सम्यक्दर्शन से मोक्षमार्ग का मंगलमय प्रारंभ होता है, तभी आविर्भूत होते हुए ज्ञान व आनंद तथा उसके विकास क्रम से लेकर परिपूर्ण शुद्धता पर्यंत की विधि उपदिष्ट है।

मोक्षमार्ग की ऐसी अनुपम गाथा को सर्वांग निर्दोष वीतरागी दशा में आरूढ़ होकर अतीन्द्रिय पदार्थ के स्वानुभव में कलम डुबाकर लिखा गया है। शुद्ध सम्यक्दर्शन के अनुसरण से ही मुक्ति का समीचीन मार्ग प्राप्त होता है अतः यही यथार्थ, सार्थक, अनुपम, मुक्ति मार्ग मुझे प्राप्त हो इसी अभिप्राय से (श्री) जिन तारण स्वामी को, जैसा देखा, समझा वैसा किंचित् मात्र कहने लिखने का भाव हुआ है। भव्य जीवों के आत्म कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो, यही मंगल भावना है।

वस्तुतः भाव जिनशासन के सद्भाव में ही द्रव्य जिनशासन सर्वांग निर्दोषता पूर्वक पालन हो सकता है और उससे ही सद्धर्म की समीचीन प्रभावना होती है। वस्तु स्वरूप के ज्ञान के अभाव में आगम, अध्यात्म सिद्धांतों और तदनुरूप आचार-विचार में मर्यादा, यथार्थता, निर्दोषता और संतुलन रह पाना दुष्कर है। जो अपने में अनादि अज्ञान से होने वाली शुभाशुभ उपयोग रूप पर समय की प्रवृत्ति को दूर करके सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र में प्रवृत्ति रूप स्व समय को प्राप्त करके, उस स्व समय शुद्धात्म स्वरूप रूप परिणमन करता हुआ मोक्षमार्ग में अपने को परिणमित करके, जो सम्पूर्ण विज्ञानघन स्वभाव को प्राप्त हुआ है तथा जिसमें कोई ग्रहण त्याग नहीं है, ऐसे साक्षात् शुद्धात्म स्वरूप पूर्ण शुद्ध ज्ञान स्वभाव को देखता है, अनुभूति करता है, यही निश्चय सम्यक्दर्शन मुक्ति का मार्ग है। ज्ञान श्रद्धान होने के बाद बाह्य सर्व परिग्रह का त्याग करके पूर्ण ज्ञान स्वभाव का अभ्यास करना, उपयोग को ज्ञान में ही स्थिर करना, जैसा शुद्ध नय से अपने स्वरूप को सिद्ध समान जाना, श्रद्धान किया था, वैसा ही ध्यान में लेकर चित्त को एकाग्र स्थिर करना और पुनः उसका अभ्यास करना, यही साधक की साधना है जिससे कर्मास्रव का निरोध होकर पूर्वबद्ध कर्म क्षय होकर केवलज्ञान प्रगट होता है। यही जिनशासन में जिनेन्द्र परमात्मा ने निर्दिष्ट किया है, ऐसा समझकर अत्यंत जागृतिपूर्वक आत्मश्रेय की तीव्र भावना और दृढ़ मोक्षेच्छा सहित आत्म आराधना ही मोक्षमार्ग है।

मुक्ति, परमात्म पद की पवित्र भावना से श्री जिन तारण स्वामी ने इस त्रिभंगीसार जी ग्रंथ का निरूपण किया है, जो समस्त भव्य जीवों के लिए मुक्ति का कारण है।

यह त्रिभंगीसार ग्रंथ करणानुयोग का सार है, जैनशासन का यह स्तंभ है,

साधक की कामधेनु है, साधक के लिए यह कल्पवृक्ष है। इसकी प्रत्येक गाथा अध्यात्म साधना में रत ज्ञानानुभूति में डूबकर आत्म अनुभव से लिखी गई है। सद्गुरु श्री जिन तारण स्वामी भगवान महावीर स्वामी के समवशरण में उपस्थित रहे हैं, उनकी दिव्यध्वनि को सुना, आत्मसात् किया, वस्तु स्वरूप को जाना, यह बात यथातथ्य है, अक्षरशः सत्य है। श्री छद्मस्थवाणी जी ग्रन्थ से प्रमाणित है इसलिए इसमें लेश मात्र भी शंका के लिए स्थान नहीं है। उन परम उपकारी श्री गुरु तारण तरण मण्डलाचार्य जी महाराज द्वारा रचित त्रिभंगीसार ग्रन्थ में जिनेन्द्र परमात्मा द्वारा उपदिष्ट वस्तु स्वरूप का निर्णय है।

सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः

❀ ॐ शुद्धात्मने नमः ❀

इस ग्रंथ की टीका लिखने में जो अपूर्व लाभ मुझे मिला वह अवक्तव्य है। जो धर्म का सूक्ष्म रहस्य और आस्रव का रहस्य अभी तक जानने में नहीं आया था, वह सद्गुरु की कृपा से समझ में आया, हम उनके प्रति अत्यंत कृतज्ञ हैं। सभी भव्य जीवों का मोक्षमार्ग प्रशस्त हो, यही मंगल भावना है।

बरेली-२५.१०.१९९२

ज्ञानानन्द

★ त्रिभंगीसार : सिद्धान्त सूत्र ★

❀ आत्मा के जिस परिणाम से कर्म का आस्रव होता है उसे जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित भावास्रव जानना और जो ज्ञानावरणादि कर्मों का आस्रव है वह द्रव्यास्रव है।

❀ वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से शरीर, वचन और मन की अपेक्षा लेकर जो आत्मा की चेष्टा होती है, उसे सूत्र के ज्ञाताओं ने कर्मास्रवों का निमित्त होने से आस्रव कहा है। जैसे-सरोवर में पानी आने के द्वार को आस्रव कहते हैं, उसी प्रकार आत्मा में कर्मागमन के कारणभूत ऐसी जो मन, वचन, काय की प्रवृत्ति उसे आस्रव कहते हैं।

❀ शुभ परिणामों से उत्पन्न होने वाली मन, वचन और शरीर की चेष्टा से आत्मा में शुभ कर्म का आगमन होता है और अशुभ परिणामों से उत्पन्न होने वाली मन, वचन और शरीर की चेष्टा से अशुभ कर्म का आगमन होता है। शुभ योग शुभास्रव का, पुण्यास्रव का कारण है और अशुभ योग अशुभास्रव का, पापास्रव का कारण है।

❀ क्रोध, मान, माया और लोभ से उत्पन्न हुए आस्रव, कर्मागमन को सांपरायिक आस्रव कहते हैं। सांपराय का अर्थ संसार है अर्थात् संसार जिसका प्रयोजन है ऐसे आस्रव को सांपरायिक आस्रव कहते हैं। यह आस्रव कषाय वाले जीव को होता है और ईर्यापथ आस्रव, अकषाय जीव अर्थात् कषाय रहित जीव को होता है।

❀ जैसे अपने अहंकार के वश हुआ कोई योद्धा उन्मत्त पुरुष की तरह अपने में ही चूर होकर बड़े गर्व की गति से पैर बढ़ाता हुआ आवे और यदि उसे कोई अन्य बलवान, धीर-वीर, धनुषधारी पुरुष युद्ध भूमि में परास्त करके निर्मद कर देवे तब वह समर भूमि छोड़कर भाग जाता है, इसी प्रकार जीवों को संसार की रंगभूमि में अपने वश कर लेने के अहंकार से मदमत्त आस्रव भाव को सम्यक्ज्ञान रूपी अन्य योद्धा परास्त कर देता है।

❀ आस्रव भाव अर्थात् पर पदार्थ में राग-द्वेष आदि परिणाम जीव के अज्ञान जनित भाव हैं। ज्ञानी जीव इन भावों से बचता है, जो सम्यक्दृष्टि हैं,

भेदज्ञानी हैं वे अपने ज्ञान भाव और रागादि अज्ञान भाव में भेद करके ज्ञान भाव को स्वीकार करते हैं तद्रूप परिणत होते हैं, रागादि अज्ञान भाव रूप परिणत नहीं होते।

❀ मोह रूप संकल्प तथा राग-द्वेष रूप विकल्प यह सब जीव के अज्ञान भाव हैं। यह जीव अपनी इस भूल के कारण ही कर्म बन्ध करता है, यदि वह अपने स्वरूप का सही बोध कर ले और किसी भी पदार्थ में राग-द्वेष की भावना न करे तो, अज्ञान चेतना रहित, ज्ञान चेतना सहित वह ज्ञानी है। उस समय उसकी यह परिणति ज्ञानमय परिणति है, इस ज्ञानमय परिणति के होने पर जीव दोनों प्रकार के आस्रव अभाव कर निरास्रवदशा को प्राप्त करता है।

❀ मोह-राग-द्वेष भाव के समय ही जीव अपने स्वरूप को भूलता है, अतः यह ही अज्ञान भाव हैं। इस कारण राग-द्वेष, मोह से रचित भाव होने पर ज्ञान भाव की शुद्ध परिणति नहीं होती, अतः यह तीनों भाव अज्ञान परिणति स्वरूप हैं; फलतः यह ही द्रव्य-भाव कर्मास्रवों के कारण हैं।

❀ जिसे आत्म बोध होता है वह अपने स्वभाव की प्राप्ति के प्रति ही रुचि, प्रीति, प्रतीति करता है। अन्य पदार्थ को अपने से भिन्न मानकर उसके संयोग-वियोग की चिन्ता नहीं करता, ऐसा भेदज्ञानी सम्यक्दृष्टि जीव दोनों प्रकार का कर्मास्रव नहीं करता।

❀ भावास्रव अपने विकारी परिणामों को कहते हैं क्योंकि ज्ञानावरणादि कर्म बन्ध के वे ही कारण हैं। बन्ध के कारण को ही आस्रव कहते हैं, इस तथ्य को सम्यक्दृष्टि जानता है क्योंकि उसे रागादि विकारी भाव तथा अपने निज चैतन्य स्वभाव में भेदज्ञान हो चुका है।

❀ अपनी निज ज्ञान शक्ति का आलम्बन कर अर्थात् अपने स्वभाव को ही अपने उपयोग में लाने से पूर्वबद्ध कर्म पिण्ड में स्थिति अनुभाग का खण्डन हो जाता है जिससे कि उदय की धारा में परिवर्तन हो जाता है, इस परिवर्तन से ही अबुद्धिपूर्वक रागादि विलीयमान होते हैं।

❀ जो सम्यक्दृष्टि ज्ञानी है, उसने पूर्व दशा में अज्ञान वश नाना

प्रकार के कर्मों का बन्ध कर रखा है, अभी जिनका अभाव नहीं हुआ वे कर्म आत्मा से संबद्ध हैं, कभी यद्यपि उदय को प्राप्त होते हैं, समय-समय पर उदय में आते हैं तथापि उस अवस्था में भी जीव मोह, राग-द्वेष रूप विकारी परिणामों के अभाव से कर्म बन्ध को कदाचित् भी प्राप्त नहीं होता।

❀ बन्ध का कारण जीव का मोह अर्थात् मिथ्यात्व भाव तथा राग द्वेष अर्थात् कषाय भाव हैं। ज्ञानी पुरुष के इन तीनों का अभाव है अतः उसे कर्म बन्ध नहीं होता अर्थात् वह भावास्रव रूप परिणामों के अभाव में अबन्ध रूप है।

❀ द्रव्य दृष्टि या स्वभाव दृष्टि से संसारी जीव कर्म से अबद्ध हैं, वर्तमान पर्याय अशुद्ध है उसे मिटाकर स्वरूप रूप परिणमन करना ही मुक्ति प्राप्त करना है। शुद्धात्म ज्ञान ही ऐसा प्रबल हेतु है जो आत्मा को कर्म रहित बना देता है अतः उसे प्राप्त करना ही श्रेयस्कर है।

❀ सम्यक्दृष्टि जीव में जो आत्म दृष्टि प्रगट होती है वह दृष्टि ही मुक्ति का बीज है, उसके कारण ही जीव मिथ्याज्ञान से विमुक्त होकर सम्यक् ज्ञानी बनता है तथा अपनी अनादिकालीन भ्रमपूर्ण सांसारिक प्रवृत्तियों को दूर कर आत्मानुकूल प्रवृत्तियों द्वारा अपने को निर्बन्ध बनाने में सफल होकर केवलज्ञान को प्रगट कर अरिहन्त दशा प्राप्त करता है।

❀ संसार के दुःखों का समूल नाश इसी आत्मदर्शन, आत्मबोध और आत्मध्यान से होता है, इनका नाम ही सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है अतः आत्मज्ञान की सदा आराधना करनी चाहिए इसके बिना नवीन आस्रव भाव नहीं रुकता।

❀ जिसकी भूल दूर होगी वही अपने स्वरूप को प्राप्त करेगा, भेदज्ञानी भी अपनी भूल को मिटाकर अपने निर्मल स्वभाव का मनन करता हुआ पर से भिन्न होकर अपनी शुद्धात्मा को भेदविज्ञान के बल से प्राप्त कर लेता है।

❀ सम्यक्दृष्टि के बुद्धिपूर्वक आस्रव बंध नहीं हैं और जो पूर्व बद्ध कर्म हैं उनका वह ज्ञाता होता है।

❀ जीव में होने वाले राग-द्वेष, मोह भाव जीव की परिणति होने से जड़ नहीं हैं और जीव में स्वभाव नहीं होने से चेतन नहीं किन्तु चिदाभास हैं।

❀ अचेतन मिथ्यात्व अविरति कषाय योग तो पुद्गल कर्म प्रकृति रूप हैं। चेतन मिथ्यात्व अविरति कषाय योग जीव के परिणाम हैं।

❀ बुद्धि पूर्वक राग-द्वेष, मोह न होने से ज्ञानी को अबंधक कहा गया है।

❀ आत्मा-कर्म, नो कर्म, भाव कर्म से सर्वथा भिन्न है, यह तीनों संसारी दशा में जीव के साथ हैं; पर यह न जीव हैं और न जीव के स्वरूप में हैं। जीव का स्वरूप तो एकमात्र एक अखण्ड चैतन्य स्वरूप ही है। इस प्रकार दोनों को पृथक्-पृथक् अनुभव करना ही भेद विज्ञान है। जो भेदज्ञानी ऐसा भेद करके निज तत्त्व की उपादेयता तथा पर की अनुपादेयता का श्रद्धान करता है वही पर को छोड़कर शुद्धात्मा को प्राप्त कर सकता है। शुद्धात्मा की उपलब्धि अर्थात् साक्षात्कार होने पर रागादि का स्वयं अभाव होता है, यही संवर भाव है।

❀ भेद विज्ञान का बारम्बार अभ्यास करना यही मोक्षमार्ग है, उसी से शुद्धात्म तत्त्व की प्राप्ति होती है, पूर्ण आस्रव भाव रुकता है तथा उसी जीव को मोक्ष होता है।

❀ मानव जीवन आत्मकल्याण के लिये मिला है अतः इन्द्रियों का निरोध आवश्यक है, साधक को पूर्ण इन्द्रिय विजयी होना चाहिये। इन्द्रिय और मन को जीतने वाला ही सच्चा वीर होता है।

जी मन, वचन, काय को रोककर आत्मज्ञान देने वाले शुद्ध निश्चयनय का आलम्बन लेकर स्वस्वरूप में एकाग्र हो जाते हैं, वे निरंतर रागादि भावों से रहित होते हुए बन्ध रहित शुद्ध समयसार स्वरूप शुद्धात्मा का अनुभव करते हैं।

❀ आध्यात्मिक भगवत ❀

मंगलाचरण-१

अविनाशी अविकार निरंजन सिद्ध प्रभो ।

अशरीरी हो ध्रुव तत्त्व तुम सिद्ध प्रभो ॥

तीनलोक के नाथ परमब्रह्म सिद्ध प्रभो ।

देवों के हो देव शुद्धातम सिद्ध प्रभो ॥

रत्नत्रय मयी ममल स्वभावी सिद्ध प्रभो ।

अनन्त चतुष्टय धारी भगवन सिद्ध प्रभो ॥

ज्ञानानंद स्वभावी निष्कल सिद्ध प्रभो ।

निजानंद लवलीन स्वयं हो सिद्ध प्रभो ॥

ब्रह्मानंद परिपूर्ण स्वयं हो सिद्ध प्रभो ।

सहजानंद स्वरूप स्वयं भू सिद्ध प्रभो ॥

भजन-२

सिद्धं सिद्ध स्वरूप , हमारो जिन सिद्धं सिद्ध स्वरूप ॥

१. अलखनिरंजन ध्रुव अविनाशी , तीनजगत को भूप...हमारो...
२. ममलह ममल है केवल ज्ञायक , अमृतरस को कूप...हमारो...
३. शुद्ध बुद्ध है अरस अरूपी , अशरीरी चिद्रूप ... हमारो...
४. सोहं अहम् ब्रह्म परमेश्वर , सहजानंद स्वरूप...हमारो...
५. शुद्धं शुद्ध है ममल स्वभावी , सत्चित आनंद रूप...हमारो...
६. ज्ञानानंद स्वभावी चेतन , परमानंद अनूप...हमारो...
७. शुद्धं प्रकाशं शुद्धात्म तत्वं , रत्नत्रय सत्स्वरूप...हमारो...
८. ध्रुव है ध्रुव है ध्रुव तत्त्व है , निजानंद रस कूप...हमारो...

भजन-३

तुम संसारी नहीं , न तन के धारी हो ।

स्वयं शुद्ध चैतन्य , मोक्ष के गामी हो ॥

१. तुम निज स्वरूप को भूले , पर को अपना है माना ।
राग द्वेषादि भावों को , तुमने अपना है जाना ॥
तुम नहीं हो नर या नार , रत्नत्रय धारी हो...स्वयं...
२. निज सत्ता शक्ति देखो , तुम अनन्त चतुष्टय धारी ।
तुम सिद्धस्वरूप शुद्धात्म, हो शिवपुर के अधिकारी ॥
अब करो स्वयं का भान , परम सुखकारी हो...स्वयं...
३. ध्रुवतत्त्व का ध्यान लगाओ, निजस्वरूप में रम जाओ ।
अपने में लीन रहो तुम , नित ज्ञानानंद कहाओ ॥
तुम स्वयं सिद्ध भगवान , पूर्ण अविकारी हो...स्वयं...

भजन-४

हे भवियन ध्रुव तत्त्व ही देखो ।

ध्रुव तत्त्व टंकोत्कीर्ण अप्पा , सिद्ध स्वरूप को पेखो ॥

१. एक अखंड ममल अविनाशी , रत्नत्रय मयी देखो ।
सत्ता एक शून्य विन्द है , पर में अब मत बहको...हे...
२. अनंत चतुष्टय पंच ज्ञान मयी , सिद्धालय में बैठो ।
मोक्षमहल और मुक्ति श्री का, अतीन्द्रिय आनंद लेलो...हे...
३. जो सिद्धालय सो देहालय , यामें भेद न लेखो ।
दांव लगा है मोका मिला है , निजानंद मय चहको...हे...
४. ब्रह्मानंद में शयन कर रहा , परम शांत रस पेखो ।
ज्ञानानंद स्वभाव तुम्हारा , अपना कुछ मत लेखो...हे...

भजन-५

चलो चलो रे अपने ध्रुव धाम , फंसे हो कहां त्रिभंगी ॥

१. पाप विषय कषाय त्रिभंगी, कर रहे हालत खस्ता ।
इनकी मार में मरे जा रहे , भूल रहे सब रस्ता.....
२. कर्म बंध इनसे ही होते , देते दुःख अतिभारी ।
मोह राग के चक्कर में ही , भूल रहे सुध सारी.....
३. निज सत्ता शक्ति को देखो , तुम हो सिद्ध स्वरूपी ।
एक अखंड अविनाशी चेतन, ममल हो अरस अरूपी.....
४. नंद आनंदह चिदानंद मय , ज्ञानानंद स्वभावी ।
अप्पा शुद्धप्पा परमप्पा , शुद्धह शुद्ध स्वभावी.....
५. व्रत संयम तप के ही द्वारा , यह भंगी भगते हैं ।
कर पुरुषार्थ ध्यान लगाओ, सभी कर्म गलते हैं.....
६. ज्ञानानंद चलो अब जल्दी, साधु पद को धारो ।
निजानंद मय रहो निरंतर , मोह राग को मारो.....
७. देखो सब शुभ योग मिले हैं , काये बने अज्ञानी ।
तारण तरण जगा रहे तुमको, कह रही माँ जिनवाणी.....

निश्चय चारित्र स्वात्मानुभव ही है, वास्तव में आप ही साधन है, आप ही साध्य है, आप से ही आत्मा आप ही पवित्र होता है। यह आत्मा, आत्मा में ही, आत्मा के द्वारा स्वयमेव अनुभव किया जाता है। जो कोई भव्य जीव भयानक संसार रूपी महासमुद्र से निकलना चाहते हैं, उन्हें उचित है कि कर्म रूपी ईंधन को जलाने के लिये अपने शुद्धात्मा का ध्यान करें।

भजन-६

मत निकलो तो, यों ही चले जाओगे ।

अपनी करनी का, परभव में फल पाओगे ॥

१. साथ में कुछ भी जावे नहीं पुत्र धन ।
छोड़ कर इक दिन जाना पड़ेगा यह तन ॥
बिन संयम के दुर्गति में विल्लाओगे...अपनी...
२. पाप परिग्रह को छोड़ो तजो मोह राग ।
संयम तप को धारो बनो वीतराग ॥
इससे सद्गति में जाओ और सुख पाओगे...अपनी...
३. न किया व्रत संयम न दान ही दिया ।
लोभ मोह में फंसकर खूब पाप ही किया ॥
दुःख भोगोगे दर दर में ठुकराओगे...अपनी...
४. पाया मानुष जनम सब शुभ योग मिले ।
किया क्या यहां आकर कहां हो पिले ॥
क्या होगा अपना ऐसे में कहां जाओगे...अपनी...
५. दशरथजी गोकुल गुलाब सब ही गये ।
दाजी भी अंत में यही कह गये ॥
ज्ञानानंद जल्दी संभलो वरना फिर पछताओगे...अपनी...

जीव की सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र्य रूप विशुद्धि को धर्म कहते हैं । मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्र्य रूप संक्लेश परिणाम को अधर्म कहते हैं ।

भजन-७

हे भवियन तुम जिननाथ स्वयं ।

शुद्ध बुद्ध अविनाशी चेतन , ममलं ममल ध्रुवं ॥

१. निज सत्ता शक्ति को देखो, कहां फंसे मोहं ।
अनंत चतुष्टय शक्ति तुम्हारी , रत्नत्रय मयं...हे...
२. होना जाना कुछ भी नहीं है , भगा रहे हैं करम ।
सिद्धस्वरूपी शुद्धातम तुम, निजस्वभाव धरम...हे...
३. ज्ञायक ज्ञाता दृष्टा हो तुम, छोड़ो अब तो अहं ।
लीन रहो निज शुद्धातम में , सोहं अयं जयं...हे...
४. ज्ञानानंद स्वभावी हो तुम , अपना परम पदम् ।
ब्रह्मानंद रहो अपने में , जय जय जयं जयं...हे...

भजन-८

जगत की क्षणभंगुर लीला ।

माया काया सब नश्वर है , क्यों होता ढीला ॥

१. सब संसार असार देख ले , कौन यहां अपना ।
जिनके पीछे मरा जा रहा , मात्र दिवा सपना ॥
२. तू है एक अखंड अविनाशी, जीव तत्त्व चेतन ।
धनशरीर सब जड़ पुद्गल हैं, करता क्यों वेदन ॥
३. निजस्वभाव को भूल जगत का, कर्ता बनता है ।
होना जाना सब निश्चित है , खुद को हनता है ॥
४. ज्ञानानंद स्वभावी है तू , देख जरा खुद को ।
निजसत्ता को जागृत करले, छोड़ दे यह वुत को ॥

भजन-९

**हे वीर उठो पुरुषार्थ करो, जिनवाणी माँ ललकार रही ।
क्यों कायर बनकर बैठे हो, जिनवाणी माँ धिक्कार रही ॥**

१. यह मौका मिला सुनहरा है, शुभ योग सभी तुमने पाया ।
यह जैन धर्म श्रावक कुल में, तारण गुरु के शरणे आया ॥
२. तुम धर्म अहिंसा पालक हो, और वीतराग के अनुयायी ।
जिनने कर्मों को जीत लिया, उनने ही मुक्ति श्री पाई ॥
३. तुम ज्ञानानंद स्वभावी हो, और अनंत चतुष्टय धारी हो ।
हो सिद्ध स्वरूपी शुद्धातम, कैसी मति यह मारी हो ॥
४. यह बनियों का है धर्म नहीं, न कायर इस पर चलते हैं ।
हो शूरवीर क्षत्रिय योद्धा, जो मोह राग को दलते हैं ॥
५. नर हो न निराश करो मन को, पुरुषार्थ करो पुरुषार्थ करो ।
तुम महावीर के बेटे हो, साधु बनकर महाव्रत धरो ॥

भजन-१०

जा राग में आग लगाओ रसिया ॥

१. इस शरीर का पीछा छोड़ो, पर से अब अपना मुँह मोड़ो ।
सब कर्मों की होली जलाओ, रसिया....जा राग में....
२. संयम तप में अब रंग जाओ, मुक्तिश्री संग रास रचाओ ।
वीतरागता की धूम मचाओ, रसिया....जा राग में....
३. मोह मान के गढ़ को तोड़ो, राग द्वेष का पीछा छोड़ो ।
समता भाव जगाओ, रसिया....जा राग में....
४. ज्ञानानंद निजानंद टेरो, भाव विभाव के भूत जे हेरो ।
सहजानंद रम जाओ, रसियाजा राग में

भजन-११

हे भवियन अपनी सुरत रखो ।

ध्रुव शुद्ध निज शुद्धातम है, सिद्ध स्वरूप लखो ॥

१. पर की तरफ जरा मत देखो, विभाव में मती बहो ।
किससे क्या लेना देना है, निजानंद रस चखो...हे...
२. जब जैसा जो कुछ होना है, टारो नहीं टरो ।
सिद्ध स्वरूपी शुद्धातम तुम, बाहर काये भगो...हे...
३. त्रिकाली पर्याय क्रमबद्ध, जिनवाणी में लखो ।
शांत स्वस्थ रहो अपने में, सहजानंद चखो...हे...
४. ज्ञानानंद स्वभाव तुम्हारा, मद मिथ्यात्व हरो ।
छोड़ो यह सब दुनियांदारी, साधु पद को धरो...हे..

भजन-१२

मैं ही मेरी सिद्ध शिला हूँ, मैं ही तो ध्रुव धाम हूँ ।

मैं ही परमब्रह्म परमेश्वर, मैं ही आतम राम हूँ ॥

१. मैं ही अपना कर्ता धर्ता, मैं ही पूर्ण निष्काम हूँ ।
एक अखंड अविनाशी चेतन, मैं ही तो घनश्याम हूँ ॥
२. मैं ही अनंत चतुष्टय धारी, वीतराग भगवान हूँ ।
रत्नत्रयमय स्वरूप मेरा, मैं ही पूर्ण विराम हूँ ॥
३. ब्रह्मानंद सहजानंद हूँ मैं, मैं ही सिद्ध भगवान हूँ ।
मैं ही ज्ञानानंद स्वभावी, निजानंद अभिराम हूँ ॥
४. मैं अरस अरूपी ज्ञान चेतना, सच्चिदानंद सुखधाम हूँ ।
नाम रूप का भेद नहीं कुछ, मैं तो सदा अनाम हूँ ॥

भजन-१३

हे साधक अब प्रमाद को छोड़ो ।

अपनी सुरत रखो निशिवासर , मोह राग को तोड़ो ॥

१. इन्द्रिय विषय व्यर्थ बोलना , इनसे मन को मोड़ो ।
चारों कषायें ही दुःख दाता , समय बचो है थोड़ो...हे...
२. निद्रा को अब दूर भगाओ , मत सोओ बेचकर छोड़ो ।
चाह लगाव भी खत्म करो अब , उठकर जल्दी दौड़ो...हे...
३. देखो अपनी सत्ता शक्ति , सब प्रपंच को छोड़ो ।
निज पुरुषार्थ जगाओ जल्दी , अपनी सेना जोड़ो...हे...
४. ज्ञानानंद स्वभाव तुम्हारा , काये को खा रहे कोड़ो ।
निजानंद रत रहो निरंतर , मुक्ति श्री वर जोड़ो...हे...

भजन-१४

मेरे गुरु तार , आओ फाग अब खेलें ॥

१. समकित की पिचकारी लेकर , संयम रंग गलायें ।
तप से सारे कर्म खिपायें , ध्यान की आग लगायें...
२. सिद्ध स्वरूप की सुरत लगायें , शुद्धात्म को ध्यायें ।
मुक्ति श्री संग रास रचायें , ज्ञानानंद बरसायें...
३. पहले तो कुछ पता नहीं था , जो कुछ तुम कहते थे ।
मोह अज्ञान मिथ्यात्व दशा में , हम उल्टे बहते थे...
४. तेरी कृपा से गुरुवर ऐसा , सब शुभ योग है पाया ।
ब्रह्मानंद का भान हो गया , निजानंद प्रगटाया...
५. सहजानंद में अब नित रहते , जय जयकार मचाते ।
फाग फूलना के मेले में , अब हम तुम्हें बुलाते...

भजन-१५

आने है आने है , जा मौत तो इक दिन आने है ।
जाने है जाने है , सब छोड़ के इक दिन जाने है ॥

१. बीतो बचपन गई जवानी , अब तो बुढ़ापो आ गओ ।
हाथ पांव सब ढीले पड़ गये , आँखों में धुंध छा गओ ॥
खाने है खाने है , का अब भी धक्का खाने है...आने...
२. धन वैभव और कुटुम्ब कबीला , यहीं छूट जायेगा ।
धर्म कर्म ही साथ जायेगा , कुछ न काम में आयेगा ॥
पाने है पाने है , अब मुक्ति श्री को पाने है...आने...
३. सब संसार सामने दिख रहो , जावे वारे जा रहे ।
जेको जैसो कर्म उदय है , वैसे धक्का खा रहे ॥
जगाने है जगाने है , अब निज पुरुषार्थ जगाने है...आने...
४. धर्म की महिमा सामने दिख रही , अब का उल्टे मरने है ।
संयम तप की करो साधना , अब तो महाव्रत धरने है ॥
भाने है भाने है , अब निज शुद्धात्म भाने है...आने...
५. मोह राग में अब मत भटको , पर की तरफ न देखो ।
ज्ञानानंद में लीन रहो नित , अपना कुछ मत लेखो ॥
ध्याने है ध्याने है , अब सत्य स्वरूप ही ध्याने है...आने...

भेदज्ञान द्वारा स्व- पर का यथार्थ निर्णय करना;
क्योंकि उपादेय की तरह हेय को भी जानना आवश्यक है,
हेय को जानने से उपादेय में दृढ़ आस्था होती है ।

भजन-१६

पर्यायों के पार देख लो , अपना ही ध्रुव धाम है ।

अरस अरूपी ज्ञान चेतना , शुद्धातम अभिराम है ॥

१. वहाँ न कोई गुण पर्यय है , न ही व्यय उत्पाद है ।
नाम रूप का भेद नहीं है , शुद्धह शुद्ध स्वभाव है ॥
२. रत्नत्रय का भेद नहीं है , अनंत चतुष्टय धारी है ।
पंच परमेष्ठी मयी स्वयं ही , शिव सत्ता सुखकारी है ॥
३. केवलज्ञान का धारी है वह , पंच ज्ञान का भेद नहीं ।
परमानंद निरंतर बहता , वहाँ जरा भी खेद नहीं ॥
४. ज्ञानानंद स्वभावी है वह , निज आनंद अपार है ।
ब्रह्मानंद स्वयं में प्रगटा , मच रही जय जयकार है ॥
५. अभयस्वभावी ममलस्वभावी , शुद्ध मुक्त निष्काम है ।
तारण तरण जिनेश्वर खुद ही , सहजानंद सुखधाम है ॥

भजन-१७

विनती एक सुनीजे तरन जिन , विनती एक सुनीजे ॥

१. ब्रह्मस्वरूप अनुभव में आ गओ , भेदज्ञान प्रत्यक्ष दिखा गओ।
कम्म उवन्न विलीजे , तरन जिन विनती एक सुनीजे.....
२. चारों गति के दुःख बहु भोगे , पर पर्याय के रहे संयोगे ।
मुक्ति पंथ चलीजे , तरन जिन विनती एक सुनीजे.....
३. अब संसार में कुछ नहीं तुम्हारा , साधु पद का बांध लो सेहरा।
जय जयकार मचीजे , तरन जिन विनती एक सुनीजे.....
४. पर पर्याय से रहो नित न्यारे , तुम हो अनंत चतुष्टय धारे ।
ज्ञानानंद रमीजे , तरन जिन विनती एक सुनीजे.....

भजन-१८

हे साधक राग में आग लगाओ ।

निज सत्ता शक्ति को देखो , शुभ में मत भरमाओ ॥

१. राग उदय चल रहा सामने , इसमें मती लुभाओ ।
अपनी सुरत रखो निशिवासर , निज पुरुषार्थ जगाओ...
२. तत् समय की योग्यता देखो , समता शांति लाओ ।
अपने को किससे क्या मतलब , वीतराग बन जाओ...
३. तुम तो हो भगवान आत्मा , ज्ञानानंद कहाओ ।
पर पर्याय को अब मत देखो , निजानंद रम जाओ...
४. कठिन परीक्षा यही तुम्हारी , दृढ़ता हिम्मत लाओ ।
जीते जी मर जाओ अब तो , सद्गुरु मार्ग बताओ...
५. जीत जाओगे इस मौके पर , जय जयकार मचाओ ।
होना है वह हो ही रहा है , तुम निर्भय बन जाओ...

भजन-१९

हे भव्यो ज्ञान का दीप जलाओ ।

भेदज्ञान सत्श्रद्धा करलो , पर में मत भरमाओ ॥

१. जीव अजीव का भेद जानकर, आतम बोध जगाओ ।
मैं तो हूँ भगवान आत्मा , ऐसी श्रद्धा लाओ...हे...
२. धन शरीर सब नाशवान है , यह प्रत्यक्ष दिखाओ ।
देखत जानत नहीं मानते , कर्मों को दोष लगाओ...हे...
३. कर्मादि पुद्गल सब न्यारे , सद्गुरु ने बतलाओ ।
तुम हो शुद्ध बुद्ध अविनाशी , ज्ञानानंद कहाओ...हे...
४. ज्ञान से ही मुक्ति होती है , ज्ञान को ध्यान बनाओ ।
सहजानंद रहो अपने में , जय जयकार मचाओ...हे...

भजन-२०

हे भव्यो आत्म ही है सार ।

निज स्वभाव में लीन रहो तो, छूट जाये संसार ॥

१. इस शरीर से भिन्न जीव तुम , करलो स्वयं विचार ।
काल अनादि से भूलस्वयं को, भुगते दुःख अपार...हे...
२. धन शरीर परिवार के पीछे , मरे हजारों बार ।
अपनी सुरत कभी नहीं आई , देखलो दृष्टि पसार...हे...
३. सद्गुरु अब तो जगा रहे हैं , अपनी ओर निहार ।
निज शुद्धात्म तत्व को देखो, यही उपदेश शुद्ध सार...हे...
४. समयसार का सार यही है , यही ज्ञान समुच्चयसार ।
ज्ञानानंद स्वभावी हो तुम , स्वयं के तारण हार...हे...

भजन-२१

स्वयं सिद्ध भगवान , कैसे हो रहे हो ।

निज सत्ता को लखो , समय क्यों खो रहे हो ॥

१. तुम अनंत चतुष्प धारी , हो रत्नत्रय भंडारी ।
खुद बने हुए अनजान , व्यर्थ में रो रहे हो...निज...
२. तुम शुद्ध बुद्ध अविनाशी , हो सिद्ध परमपद वासी ।
अब करो भेदविज्ञान , पड़े क्यों सो रहे हो...निज...
३. यह धन शरीर सब जड़ हैं , औदायिक भाव भी पर हैं ।
प्रगटाओ केवलज्ञान , क्यों कपड़े धो रहे हो...निज...
४. तुम ज्ञानानंद स्वभावी , ब्रह्मानंद ध्रुव अविनाशी ।
खुद महावीर भगवान , क्यों पत्थर ढो रहे हो...निज...

भजन-२२

जीते जी मर जाओ अब तो , करलो दृढ़ श्रद्धान रे ।
देखो सब शुभ योग मिले हैं , हो जाये कल्याण रे ॥

१. त्रिकाली पर्याय क्रमबद्ध , होना है और हो ही रहा ।
आना जाना सब निश्चित है, खोने वाला खो ही रहा ॥
तुमको किससे क्या मतलब है , तुम हो सिद्ध समान
रे....
३. स्वारथ का संसार है सारा , आयु तक रिश्तेदारी ।
बिन स्वारथ कोई बात न पूछे, देखलो सब दुनियांदारी ॥
इक दिन सब कुछ छोड़ना होगा, निकल जायेंगे प्राण
रे...
४. किसी को न अब देखो भालो, कोई से न बोलो चालो ।
करना धरना बंद करो सब, निज सत्ता को अपना लो ॥
इस शरीर का पीछा छोड़ो, करो स्वयं का ध्यान रे....
५. तुम्हरे चाहे से कुछ नहीं होता, न तुम कुछ भी कर सकते
।
होना है वह क्रमबद्ध निश्चित, अपने मोह से खुद मरते
॥
दृढ़ता से ही काम चलेगा , करो भेदविज्ञान रे....
६. ज्ञानानंद स्वभावी हो तुम , देख रहे और जान रहे ।
धन शरीर सब जड़पुद्गल हैं, अब भी क्यों नहीं मान रहे ॥
किसी से कुछ न लेना देना , स्वयं ही हो भगवान रे....
७. निजानंद में रहो निरंतर , अब किससे क्या काम है ।
ब्रह्मानंद की करो साधना , सहजानंद ध्रुव धाम है ॥
ज्ञानानंद रहो अपने में , प्रगटे केवल ज्ञान रे....

भजन-२३**उवन जिन , कुछ तो जरा विचारो ।****माया मोह में कहां भटक रहे, अपनी ओर निहारो ॥**

१. तीन लोक के नाथ स्वयं तुम , रत्नत्रय उर धारो ।
अनंत चतुष्टय रूप तुम्हारा , जिनवर जूने उचारो...
२. सिद्ध स्वरूपी शुद्धातम तुम, ज्ञान स्वभाव तुम्हारो ।
अरस अरूपी अस्पर्शी हो , शुद्ध ध्रुव उजियारो...
३. पर पर्याय से सदा भिन्न हो, कर्म कलंक भी न्यारो ।
शुद्ध बुद्ध अविनाशी चेतन , केवलज्ञान निहारो...
४. इस शरीर की खातिर तुमने, संयम नियम बिगाड़ो ।
मरकरके दुर्गति में जैहो , भोगो दुःख अपारो...
५. ज्ञानानंद स्वभावी होकर , फिर रहे मारे मारो ।
निज सत्ता शक्ति को देखो, क्षण को खेल है सारो...
६. मुक्ति श्री निज घर में बैठी , बाहर लगो है तारो ।
निज स्वभाव में तुम आ जाओ, मच है जय जयकारो...

भजन-२४**हे साधक अपनी सुरत सम्हारो ।****मोह राग में अब मत भटको, संयम तप को धारो ॥**

१. निजानंद को अपने जगाओ, इस प्रमाद को मारो ।
देख लो अपना क्या है जग में, समता उर में धारो...
२. विषय कषायों में मत उलझो, पर को मती निहारो ।
इस शरीर का पीछा छोड़ो, कौन है कहा तिहारो...
३. निज सत्ता शक्ति को देखो, रत्नत्रय को सम्हारो ।
तुम तो हो भगवान आत्मा, क्यों हो रहे बेबारो...
४. ज्ञानानंद स्वभाव तुम्हारा , सद्गुरु रहे पुकारो ।
चेतो जागो निज को देखो, पर पर्याय से न्यारो...

भजन-२५**मरने है मरने है , इक रोज तो निश्चित मरने है ।****करने है करने है, खुद सोच लो अब का करने है ॥**

१. जैसा करोगे वैसा भरोगे , साथ न जावे पाई ।
धन वैभव सब पड़ा रहेगा, काम न आवे भाई ॥
धरने है धरने है , अब साधु पद को धरने है.....
२. आयु तक का सब नाता है, बाप बहिन और भाई ।
निकला हंस जलाई देही , कर दई पूरी सफाई ॥
परने है परने है , का अब भी दुर्गति परने है.....
३. माया के चक्कर में मर रहे , सब संसारी प्राणी ।
देखत जानत तुम भी मर रहे , मूढ़ बने अज्ञानी ॥
चरने है चरने है , का मल विष्टा फिर चरने है.....
४. वस्तु स्वरूप सामने है सब, सोचलो अब का करने है ।
माया मोह में ही मरने , या साधु पद को धरने है ॥
तरने है तरने है , अब भव संसार से तरने है.....
५. जितनी आयु शेष बची है , जो चाहो सो करलो ।
पर का तो कुछ कर नहीं सकते, संयमतप ही धरलो ॥
भरने है भरने है , खुद कर्मों को फल भरने है.....
६. ज्ञानानंद स्वभावी हो तुम , ज्ञान ध्यान सब कर रहे ।
कैसे सब शुभ योग मिले हैं , क्यों प्रमाद में मर रहे ॥
वरने है वरने है , अब मुक्ति श्री को वरने है.....

**आत्मा स्वयं शुद्ध आनंद कंद है ऐसी श्रद्धा सहित अनुभव
वही पूज्य है वही धर्म है , जिनवाणी का सार है ।**

भजन-२६**समकित की महिमा अपार, अपार मेरे प्यारे ॥**

१. आत्म स्वरूप अनुभव में आ गओ ।
ब्रह्म स्वरूप प्रत्यक्ष दिखा गओ ॥
मच रही है जयजयकार, जयकार मेरे प्यारे...
२. भेदज्ञान तत्व निर्णय हो गओ ।
सब ही भय शंका भ्रम खो गओ ॥
कर्मों की हो गई हार , हार मेरे प्यारे...
३. जन्म मरण सब छूट गये हैं ।
सुख शांति जीवन में भये हैं ॥
आ गई बसंत बहार , बहार मेरे प्यारे...
४. ज्ञानानंद अपने में बरसे ।
निजानंद मन ही मन हरषे ॥
सहजानंद हर बार , हर बार मेरे प्यारे...

भजन-२७

**निजानंद में लीन रहो नित, यही साधना सिद्धि है ।
ऐसी दशा में रहो निरंतर , यही पात्रता वृद्धि है ॥**

१. न अब कोई को देखो भालो, न कोई से बोलो चालो ।
जो कुछ होना हो ही रहा है , इतनी दृढ़ता उर धारो.....
२. ब्रह्मस्वरूप सदा अविनाशी , केवलज्ञान निहारा है ।
ज्ञायक ध्रुव तत्व शुद्धातम , यही स्वभाव तुम्हारा है
३. सहजानंद की करो साधना, स्वरूपानंद में लीन रहो ।
ज्ञानानंद निरंतर बरसे , ॐ नमः सिद्धि ही कहो.....

भजन-२८**खबर नहीं है कोई की इक पल की ।****जो कुछ करना होय सो करलो , को जाने कल की ॥**

१. कलयुग का यह निकृष्ट काल है , घोर पतन होवे ।
आयु काय का पता नहीं है , किस क्षण में खोवे ॥
जीवन क्षणभंगुर है , जैसे ओस बूंद जल की...जो...
२. धर्म साधना कठिन हो रही , संहनन शक्ति नहीं ।
संयम तप तो बनता नहीं है , श्रद्धा भक्ति नहीं ॥
दिन पर दिन विपरीत हो रहा , होड़ मची छल की...जो...
३. साथ में तो कुछ जाना नहीं है, स्त्री पुत्र धन धाम ।
धर्म पुण्य जो चाहो कर लो , अमर रहेगा नाम ॥
यह शरीर भी जल जावेगा , हांडी है मल की...जो...
४. देख लो सब ही चले जा रहे , मात पिता भाई ।
अपने को भी इक दिन जाना है , करलो धर्म कमाई ॥
चूक गए तो पछताओगे , अब जरूरत है बल की...जो...
५. ज्ञानानंद स्वभावी हो तुम , सबसे ही न्यारे ।
हिम्मत करलो दृढ़ता धरलो , दांव लगा प्यारे ॥
कर पुरुषार्थ संयम धारो , साधु पद झलकी...जो...

धर्म का प्रारंभ सम्यक्दर्शन से होता है । सात तत्वों का यथार्थ श्रद्धान करके निज शुद्धात्मा ही उपादेय हैं, इस प्रकार की रुचि का नाम सम्यक्दर्शन है । सम्यक्दृष्टि पुण्य और पाप दोनों को हेय मानता है फिर भी पुण्य बंध से बचता नहीं है ।

भजन-२९

हजार बार कह दई , तू ज्ञायक रह रे ।

लाख बार कह दई,तू ज्ञायक रह रे ॥

१. अशुद्ध पर्यायों को , अब मत देखे ।
कोई को किसी को अपना मत लेखे.....
२. जो होना वह सब निश्चित है ।
टाले टले न कुछ किंचित् है.....
३. त्रिकाली पर्याय निश्चित अटल है ।
केवलज्ञान का यही तो फल है.....
४. तू तो है ज्ञायक अरस अरूपी ।
ध्रौव्य तत्व है सिद्ध स्वरूपी.....
५. अलख निरंजन है परमब्रह्म ज्ञाता ।
अपने में रह अब पर में क्यों जाता.....
६. ज्ञानानंद निजानंद सहजानंद साथ है ।
ब्रह्मानंद मयी तू स्वयं का ही नाथ है.....
७. दृढ़ता से काम ले शांत और स्वस्थ रह ।
अपनी ही सुरत रख अपने में मस्त रह.....

अखंड द्रव्य ध्रुव स्वभाव और पर्याय दोनों का ज्ञान रहते हुए भी अखंड ध्रुव स्वभाव की ओर लक्ष्य रखना , उपयोग का प्रवाह अखंड द्रव्य की ओर ले जाना अंतर में समभाव को प्रगट करता है । स्वाश्रय द्वारा बंध का अभाव करते हुए जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है उसे धर्म या मोक्षमार्ग कहते हैं ।

भजन-३०

आतम ही परमातम जानो,जिनवाणी का सार है ।

मैं ही हूँ भगवान आत्मा , करो इसे स्वीकार है ॥

१. धन शरीर को अपना मानना, कर्तापन कुज्ञान है ।
मोहराग विषयों में भटकना,सबदुःखों की खान है ॥
भेदज्ञान तत्व निर्णय करलो,ज्ञान समुच्चय सार है.....
२. पर का तुम कुछ कर नहीं सकते,होना है वह हो ही रहा ।
आना जाना सब निश्चित है, खोने वाला खो ही रहा ॥
अपनी मूढ़ता के ही कारण , यह सारा संसार है.....
३. कर्मोदायिक परिणामन चल रहा, क्रमबद्ध पर्याय है ।
भूल स्वयं को बना अज्ञानी,चारों गति भरमाय है ॥
समय मिला है अभी चेतजा, सद्गुरु की ललकार है.....
४. शुद्ध बुद्ध अविनाशी चेतन , अनन्त चतुष्टय धारी है ।
ज्ञानानंद स्वभावी है तू , शिवपुर का अधिकारी है ॥
महावीर की यही देशना , मुक्ति श्री का द्वार है.....

भजन-३१

धन्य घड़ी धन्य भाग्य,स्वरूपानंद अपने में आ गये ।

निज स्वरूप का बोध हो गया , ज्ञानानंद भा गये ॥

१. वस्तु स्वरूप प्रत्यक्ष हो गया , संशय विभ्रम सभी खो गया ।
सहजानंद छा गये.....स्वरूपानंद.....
२. ब्रह्मानंद सदा अविनाशी , माया काया जग है विनाशी ।
निजानंद पा गये.....स्वरूपानंद.....
३. पदार्थक्रियासबअसत् भ्रम है,पर्यायीपरिणामन सबकाक्रम है ।
चिदानंद भा गये.....स्वरूपानंद.....

भजन-३२

**द्वादशांग का सार भरा है , ज्ञान समुच्चय सार में ।
चेतो जागो उठो चलो अब, क्या रक्खा संसार में ॥**

१. काल अनादि जग में भटके, चारों गति दुःख पाये हैं ।
बड़े भाग्य से नरभव पाया , सद्गुरु वचन सुहाये हैं ॥
दांव लगादो हिम्मत करलो , मत डूबो मझधार में...
२. ग्यारहअंग और चौदह पूर्व में, एक बात ही आई है ।
अप्पा शुद्धप्पा परमप्पा, परमानंद सुहाई है ॥
तारण तरण की वाणी है यह, देखो श्रावकाचार में...
३. संयम नियम करो अब जल्दी, अणुव्रत महाव्रत को धारो।
विषय कषाय पाप छोड़कर , मोह राग को भी मारो ॥
इस जीवन को सफल बनाओ , कहा त्रिभंगीसार में...
४. मालारोहण पंडित पूजा , कमल बत्तीसी जगा रही ।
अपना ही खुद निर्णय करलो, मुक्ति मार्ग जगमगा रही ॥
शुद्धस्वभाव की अनुपम महिमा, कही उपदेशशुद्धसार में..
५. खातिकाविशेष नाममाला , सिद्धि शून्य स्वभाव में ।
छद्मस्थ वाणी जगा रही है , मत भटको परभाव में ॥
चौबीसठाणा ममलपाहुड़ है , ज्ञानानंद भंडार में...

**हे भव्य ! तू भाव श्रुतज्ञानरूपी अमृत का पान
कर , सम्यक् श्रुतज्ञान द्वारा आत्मा का अनुभव करके
निर्विकल्प आनंद रस का पान कर, जिससे तेरी अनादि
मोह तृषा की दाह मिट जायेगी ।**

★ जय तारण तरण ★

❀ इति ❀

स्वाध्याय और आत्मज्ञान आवश्यक क्यों ?

१. तारण पंथ (मुक्ति का मार्ग) क्या है ? यह जानने के लिये ।
२. आनंद परमानंद मय जीवन बनाने तथा आत्म कल्याण करने के लिये ।
३. ज्ञान का विकास और गहराई में उतरने के लिये ।
४. आगम और अध्यात्म के रहस्यों को समझने के लिये ।
५. निश्चय-व्यवहार से समन्वित मुक्ति मार्ग प्राप्त संसार से छूटने और
मुक्ति की प्राप्ति करने के लिये, इन चौदह ग्रंथों का स्वाध्याय करना
और अपने आपको जानना बहुत आवश्यक है ।

ज्ञानदान स्वाध्याय हेतु उपलब्ध सत्साहित्य

* श्री श्रावकाचार टीका	-	६० रुपया
* श्री उपदेश शुद्ध सार टीका	-	६० रुपया
* श्री मालारोहण टीका (तृतीय संस्करण)	-	३० रुपया
* श्री पंडितपूजा टीका	-	२० रुपया
* श्री कमलबत्तीसी टीका	-	२५ रुपया
* श्री त्रिभंगीसार टीका	-	३० रुपया
* अध्यात्म अमृत (जयमाल, भजन)	-	१५ रुपया
* अध्यात्म किरण	-	१५ रुपया
(जैनागम १००८ प्रश्नोत्तर)		
* अध्यात्म भावना	-	१० रुपया
* अध्यात्म आराधना (देव गुरु शास्त्र पूजा)	-	१० रुपया
* ज्ञान दीपिका भाग- १, २, ३ (प्रत्येक)	-	५ रुपया

प्राप्ति स्थल-

१. ब्रह्मानन्द आश्रम, संत तारण तरण मार्ग, पिपरिया,
जिला- होशंगाबाद (म. प्र.) ४६१७७५

फोन- (०७५७६) २२५३०

२. श्री तारण तरण अध्यात्म प्रचार योजना केन्द्र, ६१ मंगलवारा,
भोपाल (म. प्र.) ४६२००१

फोन : (०७५५) ७०५८०१, ७४१५८६